chapter. 3

तृतीय अध्याय

भगवंतराय खीची का साहित्यिक कृतित्व

(पृष्ठ ८६-१४५)

भगवंतराय खीची का साहित्यिक कृतित्व

क्या भगवंत अथवा भगवंतराय नाम के दो कवि हुए हैं ? : श्री शिव सिंह सेंगर[1] ने भगवंत नाम के दो कवियों का उल्लेख किया है । उनके अनुसार पहले भगवंत असोथर के राजा थे परन्तु दूसरे के सम्बंध में वे सर्वथा मौन हैं । सेंगर जीने भगवंत नाम के दो कवि मानने की कोई सांक्षिप्तास्वयं नहीं दी अत: उनके उदाहरणों पर दृष्टिपात करना पड़ता है । इस प्रकार भगवंत(१) की भक्ति शास्त्रीय मर्यादावाद से नियंत्रित मिलती है जबकि भगवंत कवि(२) की भक्ति-भावना रीति कालीन श्रृंगारी वातावरण से ओत-प्रोत है । इस प्रकार प्रथम भगवंत कवि के उदाहरणों में ` वैधी ` और दूसरे में ` रागानुगा ` भक्ति-स्वरों की प्रधानता मिलती है । बहुत संभव है इसी पार्थक्यके कारण सेंगर जी के मन में दो भगवंत कवि होने की बात उठी हो, अत: इस प्रश्न पर यहां विचार कर लेना समीचीन होगा ।

सेंगर जी ने दूसरे भगवंत कवि के नाम से जो छंद उद्धृत किये हैं उनमें से एक है -

रैन की उनींदी राधे सोवति सवारो भये
झीनो पट तानि रहीं पायन ते मुखते

o o o

यह कवित्त ` अलंकार रत्नाकर `[2] में भी प्राप्त होता है । इस ग्रंथ की रचना तिथि संवत् १७६८ वि० है । भगवंतराय की मृत्यु तिथि संवत् १७९२ वि० है । अत: कह सकते हैं कि सेंगर जी द्वारा निर्दिष्ट दूसरे भगवंत कवि का समय और असोथर के भगवंत कवि का समय एक है । इस समय के पूर्व भी किसी भगवंत कवि के होने का उल्लेख नहीं है अत: दोनों के एक ही व्यक्ति होने की संभावना बढ़ जाती है । फिर ` अलंकार रत्नाकर ` के कर्त्ताओं

१- सरोज० पृ० २३८

२- सरस्वती पुस्तकालय रामनगर में प्राप्त

ने अपने ग्रंथ के आरंभ में जिन ३५ कवियों[1] का नामस्मरण कियाहै वे कोई प्रसिद्ध कवि रहे होंगे तथा उन्हीं की रचनाओं को उन्होंने अपने संग्रह में स्थान भी दिया होगा । अलंकार रत्नाकर में भगवंत कवि केनाम की छाप `भगवंतसिंह ` है । इस प्रकार समय की समयिता के साथ दोनों की जाति भीएक ही सिद्ध होती है ।

अब भगवंतराय के काव्य की दोनों धाराओं को भी समझने की आवश्यकता है, जिसके कारण सेंगर जी के मन में संदेह जागृत होने की संभावना है ।

रीतिकाल में कविता और भक्ति की धारायें एक साथ मिलकर बही हैं । लगभग सभी कवियों की रचनाओं में यह सांमजस्य उपलब्ध है । सूर के अनेक पद शुद्ध शास्त्रीय स्तुति के विषय हैं । बिहारी जैसे श्रृंगार में डूबे हुए कवि के अनेक दोहे बड़ी ही निर्विशेष रूप की शास्त्रीय मर्यादा के रंग में पगे हैं । यह प्रवृत्ति प्राय: सभी मध्यकालीन कवियों में विद्यमान है । चिन्तामणि देव पद्माकर आदि प्रमुख कवियों की नाम-गणना इस प्रसंग में की जा सकती है । इसी प्रकार विशुद्ध मर्यादा भक्ति के उन्नायक रामानन्द जी की रचनाओं में कुछ लोगों ने रसिक उपासना पद्धति के अंकुर खोजे हैं ।[2] तुलसी ने तो कृष्ण गीतावली की रचना ही की थी । उनकी गीतावली के उत्तरकाण्ड में माधुर्य भावके कुछ पदों में इस धारा का प्रभाव सुस्पष्ट है -

श्यामल सलोने गात, आलस बस जँभात
प्रिया प्रेम रस-पागे
उनींद लोचन चारु, मुख-सुखमा सिंगार हेरि,
हारे मार, भूरि भागे ।

१- रामनगर में प्राप्त हस्तलिखित प्रति में हमें ये नाम नहीं मिले परन्तु गुजरात विद्यासभा द्वारा प्रकाशित ` हिन्दी भाषाओ मा आपेलो फाण ` पुस्तक में ये नाम उद्धृत हैं ।

२- तुलना कीजिये ` रामानन्द सम्प्रदाय० ` पृ० २०६

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी काव्य की भक्ति-धारा में इन दोनों पद्धतियों की उपासना का रूप मिला जुला और नैकट्यपूर्ण है। कवियों की व्यक्तिगत रुचि या व्यक्तिगत विश्वास के कारण इनमें से किसी एक स्वर की प्रधानता या विशद्धता हो जाती थी। इसका मूल कारण यह था कि भक्ति के आचार्यों ने इन दोनों धाराओं को अन्ततोगत्वा अलगनहीं किया था। एक का साधक दूसरे में भी स्वाभाविक रीति से सम्प्रविष्ट हो जाता था। यदि साधना के स्तर के अनुसार इसका विभाजन किया जाय तो विश्वास अनुभूति और तन्मयता को ही विभेदकता का आधार माना जायगा। मर्यादा भक्ति शास्त्र विधानों से उठकर केवल राग का विषय बन जाने पर 'रागानुगा' की संज्ञा पाती है।

अतएव केवल भक्ति की इन दोनों धाराओं के अवलोकन मात्र से ही भगवंत नाम के दो कवियों के अस्तित्व की धारणा भी समीचीन न होगी। वरन् हम उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भगवंत नाम के एक ही कविहुए हैं जो असोथर के राजा थे।

उपलब्ध रचनायें

अभी तक भगवंतराय का कोई ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया है। खोज रिपोर्टों[1] में 'हनुमान जी के कवित्त' और 'हनुमान पचासा' नामों से एक ही रचना का उल्लेख है। पर भिन्न स्थानों से प्राप्त इस रचना के नामों के साथ उनकी छंद संख्या में भी अंतर है। खोज रिपोर्टों में जितना अंश उद्धृत मिलता है उसके अतिरिक्त लखनऊ के कवि विमलेश जी के व्यक्तिगत संग्रह में लंकादहन प्रकरण के छंद कवित्त हमें और मिले हैं। रीतिकालीन कविता के संग्रहों - 'अलंकार रत्नाकर', 'दिग्विजयभूषण' तथा 'श्रृंगार संग्रह' में भी इनके कुछ छंद उदाहरण रूप में संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त याज्ञिक संग्रहालय[2] के

१- देखिये खोज० १९०६-८, १९२३,२५, १९२६-२८

२- खोज० ~~१९२६-२८~~ जिल्द संख्या १७ में दिए गए विवरण के अनुसार। इसे वृन्दावन के मंदिर में देखने का प्रयत्न किया गया पर अब वहां से याज्ञिक जी की पुस्तकें बिखर कर इधर उधर होगई हैं।

एक संग्रह ग्रंथ में इनके कुछ छंदों के संग्रह का उल्लेख है । इसी प्रकारसौराष्ट्र के कवि गोविंद गिल्लाभाई के भी संग्रह में कुछ छंदों के संगृहीत होने का उल्लेख मिला है ।[१] शिवसिंह सेंगर ने भी जितने छंद अपने ग्रंथ में उद्धृत किये हैं उनमें से एक छंद अन्यत्र हमारे देखने में नहीं आया ।

कवि भगवंतराय की इन रचनाओं के अतिरिक्त कुछ संगीत संबंधी रचनायें बड़ौदा के प्रसिद्ध ध्रुपद गायक श्री भरत व्यास से प्राप्त हुई हैं , जिनका यथास्थान इसी अध्याय में विवेचन किया गया है ।

संभाव्य रचनायें

रामायण : उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त श्री शिवसिंह सेंगर ने लिखा है " साती काण्ड रामायण की कवित्तों में महा अद्भुत रचना और कविताई में बनायो"[२] सेंगर जी के इस कथन की खोज रिपोर्टों में प्राप्त ' हनुमान जी के कवित्त ' रचना पुष्ट करती हैं । सम्भवत: यह रचना रामायण का ही अंश और जहाँ तक प्रतीत होता है - सुंदरकाण्ड है । उत्तर मध्यकाल में राम भक्तों में हनुमान की भक्ति का विशेष रूप से प्रचार था । तुलसीकृत रामायण का भी सुंदरकाण्ड अन्य काण्डों की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय हुआ है । तुलसी की ' कवित्तावली ' का हनुमान संबंधी अंश ' हनुमान बाहुक ' नाम से अलग से छपता और बिकता है । इस प्रकार भगवंतराय की रामायण का हनुमान से संबंधित अंश सुंदर-काण्ड - यदि अधिक लोक-प्रियता के कारण नष्ट होने से बच गया तो यह स्वाभाविक ही था । हनुमान के ही नाम पर रचना का शीर्षक भी यदि लोगों ने स्वयं दे डाला होतो भी आश्चर्य नहीं । दो स्थानों पर प्राप्त एक ही रचना के दो

१- बड़ौदा विश्वविद्यालय की खोज के आधार पर

२- सरोज०पृ० २३८

शीर्षक होने से इस तथ्य के लिए संकेत भी मिल जाता है ।

इधर सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी के शोध-छात्र श्री कमल मिश्र से ज्ञात हुआ है कि भगवंतराय के दो ग्रंथ फूलपुर जिला इलाहाबाद के एक ठाकुर साहब के पास अब भी विद्यमान हैं । ठाकुर साहब के पुत्र से जो कमल जी के सहपाठी थे, यह सूचना कमल जी को मिली है । पर ठाकुर साहब उन दोनों ही पुस्तकों को किसी को दिखाते तक नहीं । ग्रंथों के नाम ` कवित्त रामायण ` और कवित्त सागर ` हैं ।

कवित्त रामायण और कवित्त सागर : जहां तककवित्त रामायण ` का प्रश्न है वह शिवसिंह सेंगर के पश्चात खोज में प्राप्त ` हनुमान जी के कवित्त ` से भी पुष्ट होती है । अत: कमल जी की साक्षिता से उसकी पुष्टि हो जाती है । रही ` कवित्त सागर ` की बात । इसका उल्लेख अभी तक कहीं नहीं हुआ है । पर भगवंतराय के जो स्फुट छंद यत्र-तत्र बिखरे हुए भिन्न-भिन्न विषयों के मिले हैं, उनमें काव्यगत पुष्टता और रीतिकालीन प्रचलित शैलियों की विविधता को देखकर यह सहज ही अनुमान लग जाता है कि कवि ने इस प्रकार की पर्याप्त रचनायें की होंगी जो किसी कारण से बिखर कर आज अप्राप्य हो गईं । अत: ` कवित्त सागर ` की बात को अमान्य नहीं किया जा सकता । अपनी ` कवित्त रामायण ` जैसी पुष्ट शैली की प्रबंध रचना में प्रवृत्त होने के पूर्व उन्होंने काफी अभ्यास कर लिया होगा, ऐसा मानना भी अनुचित न होगा । यद्यपि आज भगवंतराय की अत्यल्प रचनायें हमें प्राप्त हैं, परन्तु निकट भविष्य में हिन्दी साहित्य के समक्ष उनके उपर्युक्त दोनों ग्रंथ भी प्रकाश में आ जायेंगे - ऐसी संभावना है । कवि भगवंतराय की उपलब्ध और संभाव्य रचनाओं के अनुसार उनके काव्य की दो प्रमुख धारायें निश्चित होती हैं : (१) प्रबंध शैली जिसमें उन्होंने राम-कथा का प्रणयन किया (२) रीतिकालीन मान्यता के अनुसार की गई मुक्तक रचनायें । प्रथम में मर्यादा भक्ति की चेतना

प्रधान है तो दूसरे में साहित्यशास्त्र की सर्वस्वीकृत लक्षण और उदाहरणों की परिपाटी लक्षित होती है। इसी दूसरी शैली में कृष्ण भक्ति की मधुर धारा के स्वर भी मिल जाते हैं।

आलोचनात्मक परिचय

खोज रिपोर्टों के विवरण के अनुसार ` हनुमान जी के कवित्त ` अथवा उनके (सुंदरकाण्ड ?) की प्राप्त सामग्री को दो विभागों में रख सकते हैं। प्रारंभ के १६ कवित्त हनुमान जी की स्तुति में लिखे गये हैं। कवि अपने इष्टदेव हनुमान के नख-शिख का वर्णन करता है।[१] शेष ३४ कवित्तों में कथा वर्णित है। यह अंश खोज रिपोर्ट में सारांश रूप में उद्धृत किया गया है और मूलकृति प्राप्त नहीं हो सकी अतः इस पर विचार नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य प्रकट हो जाता है कि कवि ने अपने पूर्ववर्ती रामकाव्यों का अध्ययन व मनन अच्छी प्रकार किया था, एवं मुक्तकों में भी कथा सूत्र को पिरोकर उसके निर्वाह का पूरा प्रयत्न किया है। कवि के वर्णन में स्वाभाविकता लक्षित होती है। लंका दहन के प्रसंग में हनुमान के ऊपर मेघनाद के झपटने का प्रसंग उदाहरण रूप में रखा जा सकता है। यह वर्णन अत्यंत स्वाभाविक है। लंका जैसी वीरों की नगरी को जलाते समय कपि के ऊपर कोई आक्रमण न करे, यह लंका के वीरों की कातरता मानी जायेगी। इस प्रकार हनुमान के वीरत्व के उत्कर्ष में यह कातरता सहायक न होकर बाधक होगी। भगवंतराय ने इस प्रसंग पर अपनी प्रबंध कुशलता का परिचय दिया है। प्रतिपक्षी को समान विरोध के लिए समुद्यत दिखाकर इन्होंने वीर रस की प्रभविष्णुता की वृद्धि की है। इस एक ही प्रसंग से संकेत मिलता है कि कथा की कलात्मकता और घटनाओं की रसात्मक योजना की कलात्मकता और घटनाओं की रसात्मक योजना की इन्हें अच्छी सूझबूझ थी।

१- खोज० १९२३-२५

स्तुतिभाग

हनुमान जी की स्तुति में लिखे गये १६ कवित्तों में इष्ट का नख-शिख वर्णन है । यह अंश स्तोत्र काव्य है । इसलिए इस प्रसंग में स्तोत्रों की मूल चेतना और उसके विकास-क्रम का सिंहावलोकन उचित होगा ।

स्तोत्र साहित्य की परम्परा

स्तोत्र शब्द की निष्पत्ति ` स्तु ` धातु से हुई है । ऋग्वेद में इसके `स्तवैत ` और ` स्तोषाणि ` रूप में प्रयोग मिलते हैं । आगे चलकर इसका रूप स्तोत्र हो गया, जिसका अर्थ है जो गाये जाते हैं ।[१] इनका मूलस्वर प्रशस्ति,स्तुति और प्रार्थना में प्रस्फुटित होता है । मानव हृदय का यह आकलन संसार के सभी धर्मों के आरंभिक साहित्य में समाहित है ।[२] मानव जाति की इस अनुभूति की एक रूपता का रहस्य है, उसकी शक्ति की परिमितता । वह प्रकृति के समक्ष आरंभ से ही अपने को निरुपाय और दुर्बल पाता आया है । इस प्रकृति का यदि एक पक्ष उसके लिए अनंत सहृदय और सरल रहा है तो दूसरा उतना ही प्रबल एवं भयंकर था । प्रकृति के ये दोनों पक्ष मानव के लिए सदैव रहस्य बने रहे । इसी लिए ` असभ्यदशा में पड़ी हुई जातियों के बीच देवता एक ऐसा शासक था जो पूजा से तुष्ट होकर ही रक्षा और कल्याण करता था और पूजा न पाने पर रुष्ट होकर अनिष्ट करता था ।[३] तथा जो प्राचीन जातियां सभ्य थीं उन्होंने सूर्य,चन्द्र,अग्नि, वायु इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों को उपास्य

१- विलियम मोनियर्स संस्कृत शब्द कोष

२- फ्लावर्स० पृ० ३

३- सूरदास पृ० ४

ठहराया था, जो बराबर उपकार ही किया करती थीं, पर रुष्ट होने पर अनिष्ट भी करती थी ।[1] अत: कह सकते हैं कि भय और कृतज्ञता के भावों की प्रेरणा से मानव हृदय की पल्लवित हुई अभिव्यक्ति, उपासना और भक्ति साहित्य की सम्पत्ति है । वेदों में 'इन्द्र', 'वरुण', 'अग्नि', 'सोम', 'मरुत' और 'ऊषा' आदि शक्तियों का सम्बोधन एवं आव्हान करने वाले सूक्तों की संख्या पर्याप्त है । इनमें प्रशस्ति, प्रार्थना और ध्यान के सामंजस्य के साथ काव्यात्मक चारुता भी कम नहीं है । विशेषरूप से वरुण के प्रार्थना-सूक्तों में भक्तितत्व की विशेषतायें अधिक स्पष्ट हैं, जिनका विकास भक्ति-साहित्य में परिलक्षित होता है ।

"वैदिक ऋषियों को काव्य को धर्म और धर्म को काव्य बनाने की कला सिद्ध थी, जिसे उनके परवर्ती लोग भूल तो गये परन्तु उन्होंने नये प्रकार के स्तोत्रों को जन्म दिया । महाकाव्यों, पुराणों और अनिश्चित काल के तंत्र साहित्य, प्रार्थना परक रचनाओं से भरे हुए हैं, जिनमें पौराणिक देवताओं की पूजा अर्चा है । केवल हिन्दू ही नहीं, जैन और बौद्ध भी अपने धर्म गुरुओं और देवों को इस प्रकार की रचनाओं से सम्बोधित करने में हिन्दुओं से पीछे नहीं रहे ।"[2] इस प्रकार पूर्व मध्य युगीन साहित्य में स्तोत्रों की मान्यता अत्यंत व्यापक रूप से मिलती है । परंतु मध्यकाल के भक्त-सम्प्रदायों के उदय के साथ भाव-भक्ति के प्रचार के लिए मूल धर्म-भावना बहुत कुछ बदलकर श्रृंगारात्मक रहस्य के रूप में ग्रहण हुई, जिसकी प्रेरणा श्रृंगारी रहस्य-दशा से ली गई है । यहां कवि अपनी धार्मिक आकांक्षाओं को व्यावहारिक भाषा तथा लौकिक अनुराग के चित्रों में प्रकट करते थे । इस प्रवाह के कारण, संस्कृत साहित्य की धार्मिक कविता में नया मोड़ उपस्थित हुआ जो श्रृंगार काव्य के अति निकट पहुंच गया । यहां तक कि 'गीत गोविंद' जैसी कृति दृष्टिकोण के हेर फेर के कारण समान रूप से धार्मिक अथवा श्रृंगारी कृति प्रतीत होगी । धर्म-भावना के इस संस्कार से प्रबल काम-प्रवृत्ति उदात्तोन्मुख हुई गोचर होती है, और

१- सूरदास पृ० ४

२- संस्कृत लिटरेचर० पृ० १६६

फिर यह धर्म-भावना चाहे कितनी ही प्रधान क्यों न हो, उसमें साहित्यिक सौंदर्य भी असंदिग्ध रूप से सुरक्षित रहता है।[1]

हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य में यद्यपि स्तोत्रों के इसी विकसित भक्ति का प्रभाव अधिक व्यापक है परन्तु इसी के समानान्तर चलने वाली मूलधारा भी नहीं खंडित हुई, जिसमें भक्तों ने राम के चरित्र को आदर्श मानकर मर्यादित रूप में अपने हृदय की श्रद्धा दैन्य व दास्य भावों को अभिव्यक्ति दी है। दास्य भाव की प्रमुखता के कारण इनके लिए अपने आराध्य भगवान राम के एकान्त चरित्र में रमण करने की वैसी संभावना न थी - जैसी कि कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों के लिए संभव थी। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि धारा में भी रसिक-साधना पल्लवित और विकसित हुई है पर समाज में तुलसी जैसे भक्त द्वारा स्थापित मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की ही मान्यता प्रधान रूप से रही है। प्राचीन शास्त्र ग्रंथों पर प्रतिष्ठित स्तोत्र साहित्य में विद्यमान भक्ति का शुद्धरूप इसी धारा के साथ अधिक प्रस्फुटित हुआ है। इन दो धाराओं का अंतर है ' एक समाज मर्यादा को सुरक्षित और दूसरे सब कुछ न्यौछावर करते थे।' हिन्दी का मध्य युगीन भक्ति साहित्य इन्हीं दोनों धाराओं में प्रवाहित हुआ है। रूप गोस्वामी जी ने अपने ' भक्तिरसामृतसिंधु ' ग्रंथ में हृदय के राग द्वारा प्रधानरूप से संचालित होने के कारण एक को ' रागानुगा ' तथा दूसरी को शास्त्र-विहित मर्यादा से नियंत्रित होने के कारण ' वैधी ' संज्ञायें दी हैं। ' वैधी ' भक्ति में शास्त्रों के महत्व के साथ वर्णाश्रम धर्म के आचार व्यवहार पूजा विधानों की तत्परता आदि की प्रमुख रूप से मान्यता रहती है। यही शास्त्रीय भक्ति विकसित होकर नियम और बंधनों से अतीत होकर ' रागानुगा ' की कोटि प्राप्त करती है। वास्तव में इन दोनों का स्वरूप निकट एवं कभी-कभी तो घुले मिले रूप में मिलता है। एक भूमिका बनाती थी तो दूसरी परमसाध्य की उपलब्धि कराती थी। अतएव अन्योन्याश्रयता

१- संस्कृत लिटरेचर० पृ० ३७५

का संबंध स्पष्ट रूप से मिलता है । हम कह भी आये हैं कि हिन्दी के भक्त-कवियों की रचनाओं में यह घुला-मिला रूप स्पष्ट रूप से विद्यमान है ।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में स्तोत्र और उनके पांच प्रकार : इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी काव्य में एक और श्रृंगारी भाव-विधान के अंतर्गत समाहित होने वाला काव्य लिखा गया, जिसमें सामान्यत: कवि अपने और अपने आराध्य के मध्य की रेखा को मिटा देता है और उसके एकान्त जीवन के रस-चित्रों में रमण करने और उन्हें उद्घाटित करने में ऐसे डूब जाता है जैसे वह किसी अपने ही जैसे लौकिक प्राणी की जीवन-लीला में रस-स्नात हो रहा हो । परन्तु मर्यादावादी कवि एक सम्मान जनक दूरी पर स्थित होकर अपने हृदय का अर्ध्य अर्पित करते हैं । उनकी रचनाओं में हृदय की कृतज्ञता, लघुता, अज्ञानता एवं दीनता आदि भावों की तुलना में आराध्य की उदारता, महत्ता, सर्वज्ञता और सर्व सामर्थ्य आदि गुणों का वर्णन रहता है । यह दूसरे प्रकार का भक्त कवियों का काव्य आदिकालीन स्तोत्र साहित्य के सर्वाधिक निकट है । मध्यकाल के हिन्दी साहित्य में इसका कलेवर बिखरा हुआ और अल्प होने पर भी प्राय: सभी कवियों की रचनाओं में उपलब्ध हो जाता है । विषय और शैली की दृष्टि से इसके पांच प्रकार किये जा सकते हैं ।

पहला (१) स्तुति है, जिसमें ईश्वर देवता या देवी की स्तुति रहती है । यह स्तुति आत्म विषयक या निष्काम भाव से हो सकती है, दूसरा (२) मंगलाचरण ग्रंथारंभ के समय प्राय: सभी मध्यकालीन कवियों ने लिखा है इन्हें आंशिक स्तोत्र के रूप मानना ही अधिक समीचीन होगा । तीसरे (३) प्रकार के स्तोत्रों का विषय वंदना या गुण-कथन होता है , चौथे (४) प्रकार के स्तोत्रों में प्रार्थना और विरुद वर्णन तथा पांचवें (५) प्रकार के स्तोत्र ` सुमिरिनी ` माने जा सकते हैं, जिनमें आराध्य के पर्यायवाची नामों को बार बार दुहराया जाता है ।

भगवंतराय के स्तोत्र : सुमिरिनी को छोड़कर भगवंतराय की प्राप्त रचनाओं में स्तुति, गुण-कथन, प्रार्थना या विरुद-वर्णन तथा मंगलाचरण, ये

चार प्रकार के स्तोत्र प्राप्त हैं । इस प्रकार उनकी प्रकृति व निष्ठा स्तोत्र साहित्य की रचना की ओर प्रवृत्त दिखाई पड़ती है । मध्यकालीन हिन्दी स्तोत्रकारों में उनका स्थान इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । एक श्रेष्ठ स्तोत्रकार होने के लिए जिस निबिड़ निष्ठा की कवि में आवश्यकता होती है भगवंतराय में उसका अभाव नहीं । उनकी भक्ति सम्बंधी रचनाओं के विवेचन के प्रसंग में इस विशेषता को प्रकाश में लाया गया है । यहां हम आलोच्य कवि के हनुमान जी के नख-शिख पर ही विचार करेंगे ।

संस्कृत साहित्य में नख-शिख परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है । महाकवि कालिदास ने कुमार संभव में पार्वती का नख-शिख वर्णन किया है अतः इस परिष्कृत रूप की पहले से चली आई परम्परा का संकेत मिलता है । इसके बीज वैदिक साहित्य में भी खोजे जा सकते हैं । आलम्बन का स्वरूप वर्णन काव्य का प्रिय विषय रहा है । वह प्रेमी-प्रेमिका अथवा देवी-देवता किसी का भी हो सकता है । इस प्रकार नख-शिख वर्णन काव्य का सहज और सामान्य धर्म है । नख से लेकर शिखा तक पूरे शरीर का वर्णन करना इसके अन्तर्गत है । भक्ति को लेकर चलने वाले या लौकिक प्रेम का निर्वाह करने वाले दोनों ही प्रकार के कवियों को नख-शिख वर्णन अभिप्रेत रहा है क्यों कि इसके मूल में ध्यान और तन्मयता का स्थान रहता है । इस प्रकार नख-शिख वर्णन के माध्यम से जाना जा सकता है कि कवि कितना समर्थ रूप-चित्र प्रकट करता है एवं इस सब के पीछे उसके हृदय की प्रेरणा कितनी बलवती है ? भगवंतराय ने अपने सुन्दरकाण्ड में(जिसके `हनुमान जी के कवित्त ` या ` हनुमत पचासा नाम दिये गये हैं) हनुमान जी का नख-शिख वर्णन किया है । यह प्रकरण भाव और ध्यान की गहराई का पूर्णरूप से प्रमाण प्रस्तुत करता है । कवि ने अपने शब्दों के सहारे जो चित्र बनाये हैं, वे अत्यधिक प्रभावशाली अभिव्यंजक एवं भाव-पूर्ण हैं । आलम्बन के जिस किसी अंग पर कवि अपनी दृष्टि गड़ाता है, उसके साथ पूर्णरूप से भाव-तादात्म्य करता है और उसमें निमग्न हो जाता है । सौंदर्य का वास्तविक आधार भावात्मक लगाव है जो कवि-स्वभाव के अनुसार कई कारणों पर निर्भर करता है । उन सब का स्मरण करने से भाव की गरिमा बढ़

जाती है । कवि हनुमान जी के नेत्रों का वर्णन करते समय कितना भाव-विभोर हो गया है, यह अवलोकनीय है :

सील भरे सुखद सनेह भरे सोभियत
        जगत उज्यारे प्यारे जानकी के कंता के
कृपा भरे त्रपाभरे निपट निकाई भरे
        रच्छा भरे सांतरस मंडली के रंता के
तथा
लच्छ लच्छ विघन जे लच्छन विडारिवे को
        बंदौं पिंगलोचन जे रच्छा अच्छ अंता के ।

कवि अपने इष्ट देव हनुमान जी के नेत्रों का वर्णन करता है । केवल आकार और रंग आदि का कथन करने से आलम्बन के साथ आन्तरिक लगाव नहीं प्रकट किया जा सकता, इसके लिए तो गुण और व्यापार पर दृष्टि गड़ाकर उसका साक्षात्कार करना होता है। कवि ने यही देखा है और यही दिखाया है । उसके आराध्य के नेत्र शील के कारण सुखद हैं और स्नेह के कारण शोभायमान । जानकी के कन्त रामचन्द्र जी को प्रिय उनके ये नेत्र संसार में उजागर (प्रकाशित या प्रसिद्ध) हैं । इसके अनन्तर उनके नेत्रों में कृपा, त्रपा, निकाई और रक्षा आदि गुणों की स्थिति है जिसके फलस्वरूप उनके प्रति बड़े ही स्वाभाविक रूप से अनुराग की उत्पत्ति होती है । अन्त में कवि इसी कवित्त में हनुमान जी के नेत्रों की सामर्थ्य और शूरता का स्मरण करता हुआ अपनी बंदनाजलि, अर्पित करता है । यह वर्णन क्रम कितना स्वाभाविक भावपूर्ण और तारतम्यमय है । कवि अंग विन्यास में ही नहीं अटकता वरन् उनकी तह में निहित करुणा-कृपा आदि गुणों को उभार कर सामने लाता है । यह विशेषता उन्हें हिन्दी के श्रेष्ठ स्तोत्रकारों की कोटि में स्थापित करती है ।

देवताओं के नख-शिख वर्णन के कारण पुरुष सौंदर्य की जिस रमणीयता का प्रकाशन होता है वह भारतीय साहित्य की निजी विशेषता है । इस धारा की एक श्रेष्ठ रचना होने के नाते भगवंतराय का 'हनुमान जी का नख-शिख' अत्यंत महत्वशाली है ।

भगवंतराय की भक्ति-रचनायें

भगवंतराय की भक्ति संबंधी रचनायें अधिकांशत: शास्त्रीय मर्यादा का अनुकरण करती हैं। यदि उनके जीवन को भी सामने रखा जाये तो इस शास्त्रीयता की पृष्ठ भूमि को समझने में अधिक सुगमता होगी। वे वीतराग तो थे ही नहीं; साधारण गृहस्थ भी नहीं, एक राजा थे। इतना ही नहीं वे जीवन के संघर्षों में प्रवृत्त रहने वाले एवं अत्यंत महत्वाकांक्षी भी थे। उनके सामने संसार था और लौकिक सफलता भी महत्व रखती थी; अतएव इन क्षेत्रों में वे स्वाभाविक रीति से सफलता चाहते रहे होंगे। इसीलिए उनकी रचनायें अधिकांश में 'दास्य' और 'आर्त' भावों से प्रेरित हैं। राम-भक्तों के लिए ये ही स्वर आदर्श रहे हैं:

'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि'

तथा

'बालक सम मम दास अमानी'

मानस०

संसार के वास्तविक मर्म को समझने वालों के लिए भक्ति विषयक यह अन्तर्दृष्टि अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। जीवन-संघर्ष में उतरने वाले व्यक्ति को उसके उतार चढ़ाव पार ही करने पड़ते हैं, यह एक अवश्यंभावी सत्य है। ईश्वर को ही सर्व शक्तिमान समझने वाला एवं निज को उसी के अनुग्रह पर आश्रित करने वाला भक्त किसी भी विषम परिस्थिति में रहकर न तो अधीर हो सकेगा और न निराश्रित। संसार में पाई जाने वाली पराजयों, विफलताओं और कटुताओं को पी कर भी वह जीवित रह सकता है। मीरा के विष के प्याले की घटना-सत्यता चाहे जो कुछ हो पर उसके लक्ष्यार्थ की सत्यता में कोई संदेह नहीं कि सच्चा भक्त हृदय ही विष को भी हर्ष पूर्वक अपने प्रभु की इच्छा समझकर पी सकता है। ऐसे विश्वासी भक्तों को सदैव अपने शिर पर शक्तिमान ईश्वर के वरद् हस्त होने की भावना जागृत रहती है। आस्तिकता की अपने आप में यहीं एक अतर्क्य उपयोगिता सिद्ध हो जाती है:

' आतप-तापित जीवन-सुख की शान्तिमयी छाया के देश '
है अनंत की गणना देते तुम कितना मधुमय संदेश '

कामायनी

प्रश्न उठता है कि कठिनाइयों, कष्टों और आतपों के समय मनुष्य कहां शरण खोजे? कहां विश्राम पावे ? ऐसे अवसर के लिए कहा जा सकता है कि दैवी विश्वास ही मनुष्य को अपने अंचल में शांति प्रदान करता है या कर सकता है । यहीं जीव की अपने में सीमा, दुर्बलता एवं दैव की अनंत सत्ता तथा सर्वसमर्थता प्रमाणित हो जाती है । एक दाता रहता है, दूसरा मात्र याचक । भक्त को यह लाभ दास्य भाव की उपासना में ही मिल सकता है । यहां दास्यभाव को व्यक्त करने वाली अमवंतराय की कुछ पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं :

मनै भगवंत पिंगलोचन ललित सो है
कृपा कोर हेर्यो विरुदैत उन्है कर को
पवन को पूत कवि कुल पुरहूत सदा
समर सपूत बन्दौं दूत रघुबर को

o o

कैसी भई तोहिंतो हठीले हनुमान वीर
पन को पलैया तैं, जनैया जन मन को
भ्राता हरिदासन को त्राता सरनागत को
प्रभुगुन ज्ञाता प्राणदाता लछिमन को '

कवि आर्त होकर अपने उपास्य की ओर लोक जीवन की सिद्धि एवं समृद्धि के लिए निहारता है । उसी सर्वशक्तिमान के विरुदों के गायन से उसे पूर्ण मनोरथ होने का एक मात्र विश्वास है । उन्हें अपने समस्त अभावों को पूर्ण करने वाले अराध्य की शक्ति में अगाध आस्था है । फिर भला वे अपने कल्पवृक्ष जैसे आराध्य की छाया में बैठकर भी जीवन में कुंठाओं को क्यों बटोरते ।[१] उनका तो विश्वास था कि आराध्य की

१- ' सुर तरु-छांह बास कर जोई, सह कि दरिद्र जनित दुख सोई '

मानस०

कृपा से समस्त चिंताओं का शमन और कामनाओं की सिद्धि होती है। आराध्य की कृपा उस कामधेनु के समान है जिसके स्तन्य में अमृत रहता है। भक्त की ओर आराध्य की कृपा-दृष्टि होते ही उसके राज्य और वैभव का विस्तार होने लगता है। भक्त के हृदय को आनंदित करने वाली एवं उस की समस्त विपत्तियों का नाश करने वाली दृष्टि कभी अपने इस स्वभाव से डिग नहीं सकती :

सुखभरि पूरि करै, दुखन कौ दूरि करै
    जीवन समूरि सौ सजीवन सुधार की।
चिंता हरिबे कौ चिंता मनिसी बिराजै
    कामना कौ कामधेनु सुधा संजुत सुमार की।
मनै भगवंत सुधी होत जेहि ओर देस
    साहिबी समृद्धि देखि परत उदार की।
जन मन रंजनी है, गंजनी बिथा की
    मय-मंजनी नजरि अंजनी के रहदार की।

मनुष्य के समस्त कार्य व्यापार 'अंह' से ही प्रेरित होते हैं। सभी के मूल में स्वयं को ही रखकर वह विचारता एवं तत्पश्चात् कर्म की ओर प्रवृत्त होता है। उपनिषदों में भी कहा गया है, सभी कुछ आत्मा के लिए ही प्रिय होता है। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। भगवंतराय की रचनाओं में भी यही स्वर विद्यमान है। वे अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं, उसकी उन्नति के अभिलाषी हैं। लोक-मंगल के लिए सांसारिक पदार्थों की आवश्यकता रहती है तथा आत्मोत्कर्ष के लिए सद्गुणों की। कवि इन दोनों का ही अभिलाषी है। सूर्य भगवान की स्तुति में लिखे गए एक ध्रुपद में उनकी यह भावना अत्यंत स्पष्ट है :

'सरन है रायभगवंत बलवंत तू,
    राजविद्या महा शक्ति सौरभ भरन'

राज्यलाभ से सांसारिक सुख और विद्या से मानसिक ऐश्वर्य सधता है। इस प्रकार आत्मा संस्कृत एवं उन्नत होती है। इन दोनों की/ही उपलब्धि शक्ति के द्वारा होती

है । अतएव उपर्युक्त अभीष्ट साधन के लिए शक्ति की भी आवश्यकता पड़ती है । इस प्रकार तीनों ही समान रूप से काम्य हैं । इन्हें प्राप्त कर कवि सौरभ वितरण करने की अभिलाषा करता है । सौरभ अन्य कुछ नहीं, गुण ही है । गुण से ही मनुष्य की कीर्ति फैलती है । जिस प्रकार सुगंधि से अन्य लोग आनंदित होते हैं और हृदय से उसकी सराहना करते हैं तथा उसे ग्रहण करना चाहते हैं, उसी प्रकार कवि भी अपने यश से दूसरों को प्रसन्न करके उनकी प्रशंसा का भाजन बनना चाहता है । पर-हित में निष्ठ यशोर्जन संसार में बन्दनीय हो जाता है । भगवंतराय की यह प्रवृत्ति लोक-कार्य में उनकी असीम आस्था प्रकट करती है ।

उपासक की या भक्त की सबसे बड़ी सिद्धि होती है, अपने उपास्य से तादात्म्य स्थापित करने में । साधक अपने उपास्य से एकाकार कर ले यह निष्टा की संकुलता से ही संभव होता है । कवि भगवंतराय हनुमान की उपासना की अवस्था में उपास्य में कुछ इसी प्रकार तन्मय हो जाते थे । वे अपने उपास्य के चरित्र का अनुसरण स्वयं के चरित्र में करना चाहते थे । जिस प्रकार हनुमान का हृदय लंका के अन्यायी राजा रावण के विरुद्ध युद्धोत्साह में बावला था उसी प्रकार इनका भी हृदय तत्कालीन शासन के प्रति विद्रोही था । आराध्य की आराधना में उनका यह वीर रूप निवेदित मिलेगा :

> 'ओड़े ब्रह्म अस्त्र की अवाती महाताती बन्दौं
> युद्ध मद माती छाती पवन कुमार की ।'

हनुमान की वीरता और उनका पुरुषार्थ लोक-मर्यादा पर स्थित था जो असत मार्ग पर प्रवृत्त राक्षसों को विनष्ट करने में संयुक्त हुआ । वीरता के साथ लोक पक्ष सदा जुड़ा रहा है । लोक-हित की साधना ही वीरता का आदर्श है । अन्यथा होने पर वही वीरता ही बर्बरता कही जायेगी । सत्-समाज को ऐसी उदार वीरता से परम प्रसन्नता प्राप्त होती है । भगवंतराय के सामने ऐसी ही वीरता आदर्श रूप में थी । वीर की ऐसी वीरता का एक पक्ष भयंकर तथा दूसरा कितना मनोहारी होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं ।[१] लंकादहन में हनुमान के जलते हुए लांगूल की लपटों में कवि को बसंत

१- तुलना कीजिये, चिन्तामणि-भाग-१ 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था निबंध से

ऋतु के पलाश और सेमल के फूले हुए वृक्षों की लालिमा दिखी थी । उत्प्रेक्षा का सहारा लेकर कवि ने यह भी व्यंजित किया है कि बसंत की रक्त(ज्वाला) पुष्पित बनश्री को निहार कर जैसी प्रसन्नता होती है वैसी ही आज प्रसन्नता हनुमान के लंका दहन के वीर कर्म को निहार कर लोक-मानस में हुई थी ।

सुजन समाज को प्रकट प्रफुल्लित कै
　　　　चूमित मरुत चारु केसरी सुतत है
तारापति परम प्रसन्न रहै जासों सदा,
　　　　कुमुद सुसैन हरि रिच्छ हितवंत है
मनै भगवंत सीता रामहिं भजत नीके
　　　　समर सहाइ उग्र ओजस अनंत है
मानगढ़ भंजिबे को महाबालधी को बाल
　　　　आयो हनुमान जैसे आवत बसंत है ।'

कवि की दृष्टि आराध्य के लोक-मंगल साधक रूप पर टिकती है । वह अपने आराध्य से इसी लोक-हित करने की शक्ति की याचना करता है । व्यक्ति का अंह समष्टि में अन्तर्भूत होकर जब सबके साथ अपने को संबद्ध करके सोचता-विचारता है, तभी उसके व्यक्तित्व का विकास होता है एवं तभी वह समष्टि के लिए आदर एवं श्रद्धा का भाजन बनता है । भक्ति का आदर्श ' आत्मवत सर्व भूतेषु ' या ' सियाराम मय ' माना गया है । यश: कामी भगवंतराय के सम्मुख यही आदर्श था । वे राम-भक्त थे । राम-भक्तों की दृष्टि में राम के दास राम से भी बढ़ कर होते हैं । स्वयं रामानंद जी की लिखी ' हनुमान जी की आरती ' इसे प्रकट करती है ।[1]तुलसी तो इसके उद्घोषक थे, और भगवंतराय की रचनाओं में इसकी अनुवर्तिता मिलती है । राम-भक्तों में लोक-मंगल की साधना का आदर्श सर्वाधिक रहा है । भगवंतराय अपनी उपासना से शक्ति अर्जित करके अपने आराध्य के चरण-चिन्हों के अनुसरण में ही निज को समर्पित किए हुए थे । उन्होंने

१- [illegible], [illegible]

भक्ति से अपने जीवन के लोक-हित साधक पक्ष को समुन्नत किया है । वे एक ऐसे साधक थे जो अपने आराध्य को अपने भीतर उतार लेना चाहता है । उनके भक्त हृदय की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है ।

भगवंतराय की भक्ति का स्वर

यद्यपि भगवंतराय की उपलब्ध रचनाएं अत्यल्प हैं, फिर भी शास्त्रोक्त नवधा भक्ति के लक्षणों का उनमें निर्धारण आसानी से हो जाता है । उनके कवित्तों में भक्ति के मूल स्वरों की प्रतिष्ठा है । उनकी इस उक्ति " एतेनहिं काम के जे होहिं न राम के नाम लेवा " से श्रवण कीर्तन और नाम स्मरण करने की प्रवृत्तिकी पुष्टि होती है, साथ ही इनकी भक्ति सम्बंधी वैसी ही मान्यता निर्धारित होती है, जैसी तुलसी की थी ।[1] उपास्य के प्रति हृदय में गहन निष्ठा होने से ही ऐसी भावना जागृत हो सकती है । वे उपास्य के द्रवित एवं कृपालु होने के प्रति पूर्ण आश्वस्त थे :

कैसी भई तोहिंतो हठीले हनुमान वीर
पन को पलैयातें जनैया जन-मन को "

बन्दना एवं दास्य संबंधी भावों को प्रकट करने वाली पंक्तियां अन्यत्र उद्धृत की जा चुकी हैं, अत: कह सकते हैं कि उनकी भक्ति साधना उच्चकोटि की एवं शास्त्रानुवर्तिनी थी ।

आराध्य से याचना करना भक्त का अपना अधिकार है और यह अधिकार उसे अपनी भक्ति पर विश्वास के कारण ही मिलता है । शुक्ल जी के शब्दों को यहां उद्धृत करने का लोभ नहीं संवरण किया जा सकता - " कोरी श्रद्धा में याचकता का भाव नहीं है, जब प्रेम के साथ उसका संयोग होता है तभी इस भाव की प्राप्ति होती है । श्रद्धावान श्रद्धेय पर अपने निमित्तकिसी प्रकार का प्रभाव डालना नहीं चाहता , पर भक्त दाक्षिण्य चाहता है ।"[2] भगवंतराय की अत्यल्प रचनाओं में ही भक्ति के अनेक तत्वों का समावेश है

१- जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही ।
विनय०

२- चिंतामणि, भाग-१, पृ० ४०-४१

जिनके आधार पर उन्हें एक उच्चकोटि का भक्त कवि मानना पड़ता है ।

भक्ति-रचनाओं में काव्य सौंदर्य

काव्य चाहे जिस भाव में या जिस शैली में लिखा गया हो, पर उसका प्रधान गुण होता है, उसमें अन्तर्निहित कवि का ` आत्मनिवेदन ` । गीतों के लिए तो यह अनिवार्य एवं सर्व प्रधान गुण है, परन्तु इसकी महत्ता काव्य की सभी विधाओं में समान रूप से है । भक्त अपने आराध्य के प्रति आत्म-विवेदन करता है और प्रेम-विमुग्ध प्रेमी अपनी प्रेमिका के प्रति । इसी प्रकार विभिन्न आलम्बनों के प्रति भिन्न परिस्थितियों एवं मनोदशाओं में आश्रय के भाव-चित्र काव्यबद्ध होकर हमारे सामने आते हैं । हृदय-पक्ष का जैसा उद्घाटन इस ` आत्मनिवेदन ` के माध्यम से होता है, वैसा अन्य से नहीं । भगवंतराय की भक्ति संबंधी रचनाओं में ` आत्मनिवेदन ` उनकी निष्ठा की निविड़ता का परिचय देने में पूर्ण समर्थ है ।

गजेंद्र मोक्ष प्रसंग पर लिखा गया उनका केवल एक ही कवित्त प्राप्त है । रत्नाकर जी ने इसी प्रसंग पर ` अष्टक ` लिखा है । रत्नाकर जी के आठो कवित्तों को सामने रखकर पढ़िये, भगवंतराय का कवित्त आपको किसी भी प्रकार हलका नहीं दिखेगा । उदाहरणार्थ हमने रत्नाकर जी का ऐसा कवित्त छांटा है जो वस्तु प्रतिपादन की दृष्टि से भगवंतराय के कवित्त के सर्वाधिक निकट है । पहले रत्नाकर जी को ही पढ़ें :

गुनि गज भरि गह्यौ चीर कमला को तजि
ह्वै हरि अधार परि उमंग अथाह में
कहै रत्नाकर चपल चक्र वाहि चले
चक्रग्राह निग्रह के अमित उछाह में
पच्छीपति पौन चंचला सौं चख चंचलसौं
चित्त हू चौगुने चपल चलि राह में
बारहैं उबारि दसा दारुन विलोकि तासु
हुचक न लागे आप करुना प्रवाह में [1]

१- रत्नाकर भाग-२

गाढ़ परे गेयर गुहारिबो विचार्यो जब, जान्यो दीन बंधु कहू दीन को ऊदलिगो
जैसे हुते तैसे उठिधाए करुना के सिन्धु, अस्त्रसस्त्र वाहन विसारि कै विमलिगो
भनै भगवंत पीछे-पीछे पच्छिराज धाये, आगे प्रतिपच्छ छेदि(दै?) आयुधै उछलिगो
जौलो चक्रधारी चक्र चाह्यो है चलाइवे `को` तौलों ग्राह ग्रीव पै अगारु चक्रचलिगो

उपर्युक्त दोनों ही उद्धरणों में दीन वत्सलता का उत्कर्षपूर्ण चित्रण है। किन्तु रत्नाकर जी के कवित्त की भाव-संवेदना भगवंतराय से बढ़ कर नहीं है। भगवंतराय के कवित्त में स्वाभाविकता और कलात्मकता का बड़ा ही मनोहारी संयोग है। युद्ध आदि के प्रसंग में जब अस्त्रों के प्रयोग की घड़ी होती है, मनुष्य के हाथ को अस्त्रों के रूपमेंही स्वीकार किया जाता है। अस्त्र विहीन व्यक्ति को निहत्था कहा जाता है। मन के उत्साह को प्रकट करने के लिए हाथों का फड़क उठना आदि दिखाया जाता है। भगवंतराय ने भगवान विष्णु के दीन रक्षण भाव की तीव्रता को यह कहकर चित्रित किया है कि स्वयं उनका चक्र मन के विचार से भी पहले संचालित हो गया। इतना ही कह कर कवि नहीं रह गया वरन् वह यह भी दिखाता है कि उस चक्र के पीछे-पीछे स्वयं विष्णु भागते जा रहे हैं। कैसी भाव-विह्वलता है। करुणा निधान का इससे समर्थ चित्र और क्या हो सकता है? यह क्षमता किसी कवि में अपने हृदय की तन्मयता के भीतर से ही फूटती है। भगवान विष्णु के हाथ मन से भी अधिक शीघ्रता से शरणागत की रक्षा के लिए संचालित होते हैं, यह रत्नाकर जी को कहना पड़ा है परन्तु भगवंत राय ने इसी की चित्र-व्यंजना कराई है। `पवन` और `चित्त की चंचलता` कह कर सचमुच विष्णु की गति की तीव्रता का वैसा समर्थ चित्र नहीं खींचा जा सका है जो भगवंतराय ने अपने निवेदन में उतार दिया है।

उनके भक्त-हृदय की रागात्मकता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है। वे अपने आराध्य के लोक-मंगल विधायक कर्मों में लीन हो जाते थे, जिससे उनकी अभिव्यक्ति बड़ी ही सशक्त हो गई है।

भगवंतराय की श्रृंगारी रचनायें

भगवंतराय के श्रृंगार विषयक मात्र चार कवित्त ही अद्यावधि हमें उपलब्ध हुए हैं। विषय की दृष्टि से इनको नायिका भेद के अन्तर्गत ही रखा जायगा। क्रमश: ये सुरतांता, प्रवत्स्यत् भर्तृका, खंडिता और प्रौढ़ा अभिसारिका को लक्ष्य करके लिखे गए प्रतीत होते हैं। संयोग संगठन के लिए इनमें दूती की भी नियोजना मिलती है। प्रवत्स्यत भर्तृका के प्रसंग में विरह-निवेदन में ऋतुवर्णन भी आया है। परम्परारूप से रीतिकाल के कवियों ने ऋतुवर्णन की जो शैली अपनाई थी, उसे ही इन्होंने भी ग्रहण किया है। जायसी की नागमती और भगवंतराय की विरहिणी के लिए वर्षा ऋतु के मेघ, बकपंक्ति तथा विद्युत के प्रभाव एक जैसे हैं।[१] बारहमासा की यह परम्परा संस्कृत काव्य और लोक गीतों के माध्यम से अपनाकर रीतिकाल में खूब लोकप्रिय हुई। भगवंतराय की रचनाओं में इसका सुष्ठु साहित्यिक रूप मिलता है। भूषण के एक प्रसिद्ध कवित्त को सामने रखकर भगवंतराय के कवित्त का मूल्य आंकने में सहायता मिलेगी :

मेचक कवच साजि बाहन बयारि बाजि,
गाढ़े दल गाज रहे दीरघ बदन के
भूषन भनत समसेर सोई दामिनी है,
हेतु नर कामिनी के मान के कदन के
पैदरि बलाकाधुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूं ओर सूनेही सदन के
नाकत निरादर पियासों मिलु सादर
ये आए बीर बादर बहादर मदन के।[२]

अब भगवंतराय का कवित्त पढ़िये।

१- पद्मावत- नागमती का वियोग खंड

२- भूषण ०

बदरा न होहिं दल आए मैन भूपति के
        बुदिया न होहिं रीबान फरलाई है,
दादुर न होहिं रनकीब चहुं और बोलै ,
        मोर रन होहिं हौक सूरन सुनाई है
बकुला न होहिं सैन धुजा भगवंतसिंह
        चपला न होहिं समसेरैं चमकाई हैं
बालम विदेस याते बिरहिन मारिबे कौं
        जुगुनू न होहिं काम अगिनि जगाई है ।

'भूषण' तथा भगवंतराय की विरहिणियों के लिए वर्षा ऋतु के मेघ ऐसे लगते हैं जैसे वे बैरी की सेना हैं, जो उन्हें अचट में घेरे खड़ी है । न भाव भिन्न है और न उसके प्रकट करने के उपकरण भिन्न हैं । भूषण ने रूपक का आश्रय लिया है तो भगवंतराय ने 'शुद्धापह्नुति' द्वारा विरहिणियों के चित्त की घबराहट को उभार कर प्रस्तुत किया है ।

रीतिकाल में इस प्रकार की उक्तियां रूढ़ बन गई थीं । मेघ सभी विरहिणियों का बैरी और उनके लिए चन्द्रमा दाहक था । चन्दन और घनसार से किसी को भी शीतलता नहीं मिलती थी । भगवंतराय का उपर्युक्त कवित्त रीतिकाल की इसी रूढ़ वर्णन शैली के अन्तर्गत है । इसी प्रकार दूती का प्रौढ़ा नायिका को अभिसार-भवन में लाने के लिए जो शब्दावली अपनाई गई है तथा खंडिता की अपने प्रति के प्रति जो उक्ति है वह सब रीतिकाल के सामान्य वातावरण के अनुरूप ही है ।

रीतिकाल की इन संकरी सीमाओं में भगवंतराय भी खड़े हुए हैं । रीतिकाल में कवि का भाव-क्षेत्र तथा कविता के समस्त उपकरण पूर्वनिश्चित और निर्धारित थे । फलस्वरूप एक ही प्रकार की नायिकाओं के उदाहरण कई कवियों की रचनाओं से छांट लीजिए, उनमें सिवा कवि के व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति की सामर्थ्य के उद्भावना की कोई नवीनता नहीं मिलेगी । इतना ही नहीं भाषा अलंकार आदि में भी बार बार पुनरावृत्ति दिखेगी । इन सब सीमाओं में रहते हुए भी भगवंतराय की काव्य प्रतिभा

की विशिष्टता स्पष्ट परिलक्षित होती है । उन्होंने रीतिकाल की सर्व-स्वीकृत अभिधा शैली को छोड़कर, बहुधा लक्षणा और व्यंजना का आश्रय लिया है । संकेत और व्यंजना के विधान उनके काव्य में प्रचुर हैं । इसी से उनकी काव्य प्रतिभा का प्रमाण मिलता है ।

श्रृंगार की मर्यादा का निर्वाह

भगवंतराय अपने जीवन को शास्त्र नियमों से बांधे हुए थे, परन्तु विवेकहीन होकर उनका अंधानुकरण नहीं करते थे । उनके स्वभाव में ही क्रान्ति की ऊर्जस्विता थी । उनके जीवन की यह विशेषता काव्य में भी छिपी नहीं रहती । जहां उन्होंने एक ओर रीतिकाल की स्वर-साधना का अनुसरण किया है वहीं उसमें यथास्थान अपना व्यक्तित्व वैशिष्ट्य भी समाहित कर दिया है । राम भक्त होने के कारण मर्यादावाद ही उन्हें अभिप्रेत था । राधाकृष्ण के नाम पर श्रृंगारी प्रकृति के प्रकाशन की कवियों को जैसी छूट थी वैसी राम-भक्ति के क्षेत्र में न थी । इसीलिए राम-भक्ति परम्परा के कवियों के श्रृंगार-वर्णन अपेक्षाकृत मर्यादित हैं । राधा और कृष्ण नाम के प्रयोग जिन छंदों में हुए हैं, वहां यह ठीक है कि वैसी गंभीरता नहीं पायी है, जैसी विष्णु और हनुमान को संबोधित करके लिखे गए कवित्तों में है । अति प्राचीन काल से ही कृष्ण नाम के साथ अभिन्न होकर चलने वाला श्रृंगारी वातावरण ही वास्तव में इसके मूल में है । इतने पर भी इस कवि के संस्कार दूसरे थे - इसीलिए वैसा उन्मुक्त वर्णन इनसे नहीं हुआ जैसा रीति-काल के सामान्य कवि ने किया है । इन्होंने औचित्य को महत्व देकर अपने श्रृंगार-चित्रों को सम्मुख करते समय एक आवरण का विशेष रूप से ध्यान रखा है । एक ओर ईमानदारी पूर्वक अनुभूत चित्र की रंग रेखाओं को उभारना तथा दूसरी ओर मर्यादा का पालन करने में इन्होंने बड़ी कुशलता दिखाई है । कवि एक साथ दो लक्ष्य साधता है । दोनों ही ओर वह अपने कर्तव्य को किस रूप में निभा पाया है, इसकी परीक्षा वास्तव में प्रतिभा और क्षमता की परीक्षा

होगी । इस निष्कर्ष को प्रतिपादित करने वाला एक चित्र हमारे समक्ष है।[1] इसमें भाषा की लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ तथा वस्तु चित्रण के बिम्बों के लिए जैसी कुशल तूली और रंगों की आवश्यकता हो सकती थी, उसकी इन्होंने संयोजना की है । जिस प्रकार मानस के आरण्यकाण्ड में तुलसी ने सीता के नख-शिख को व्यंग्य विधान से प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार भगवंतराय की `राधिका` के सुरतांत के चित्रण में चित्र की पूर्णता, उसकी रंग रेखाओं की सफल अभिव्यक्ति औचित्य के भीतर ही व्यंग्यसंकेतों और लक्षणा के माध्यम से हुई है । चित्र इस प्रकार है " प्रात:काल का समय है । परिपुष्ट यौवना राधिका, रति के समर में प्रवृत्त रहने के कारण श्लथ हो गई हैं । उन्हें स्मर-समर में विजय सुख मिला है । इसी सुख को आत्मसात किए वे रात की नींद को प्रभात में पूरा कर रही हैं । कवि प्रसुप्त रमणी (राधिका) के संयोग अलसित सौंदर्य को प्रस्तुत तो कर रहा है, परन्तु नख से शिख तक सारे शरीर को झीने वस्त्रों में ढककर । (उच्छल यौवन के संयोग-तृप्त सौंदर्य को संकेतों द्वारा दर्शा भी दिया तथा मर्यादा को भंग भी नहीं होने दिया गया। बिहारी की नायिका के से नेत्रों का मनोहारी वर्णन इस प्रकार संभव हो सका ।[2] इस झीने पट के भीतर नायिका (राधिका) का उर-प्रदेश है, जिसे उसके ऊपर पड़ी हुई पुष्पों की माला ने ढककर एक ओर शोभा-वृद्धि की है, दूसरी ओर वक्षःस्थल की ऊंचाई, शोभा और कोमलता को प्रकट करके ही निरावृत नहीं होने दिया गया । पीठ से होती हुई श्याम वेणी कंठ और उर से होकर जानु प्रदेश से जा लगी है । यह वक्र गति से पड़ी हुई वेणी ऐसी शोभा पा रही है जैसे चंपक कुसुमांगी राधिका के शरीर पर अलियों के गुंथे हुए वृन्द माला बनकर पड़े हों । मानो रति-युद्ध के समय मदन ने राधिका के कायिक धन्वा पर चढ़ाकर अपने पुष्प वाण चलाए हैं । "मधुकर न की

१-देखिये परिशिष्ट १, पृ० ३१५, में `रैन को उनींदी राधे` प्रतीक वाला कवित्त

२- छिप्यौ छबीलौ मुंहलसै नीलै अंचर - चीर
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के तीर ।।

माल ' कह कर राधिका के साथ विहार करने वाले कृष्ण का संकेत करने में कवि ने अत्यधिक कुशलता दर्शायी है। कृष्ण और राधिका में तत्व चिंतकों ने अभिन्नता स्थापित की है। यहां वही काव्य में ढाल दिया गया है। कृष्ण (नायक) के लिए ' मधुकर ' शब्द तथा राधिका के लिए ' चम्पा ' कह कर भी कवि दोनों को संयुक्त करा देता है। साधारण रूप से यह संयोग नहीं होता। अत: राधा और कृष्ण का मिलन असाधारण और अभूतपूर्व था एवं इससे कवि ने यह भी लक्षित किया कि कृष्ण साधारण नायक नहीं जो अनायास सभी फूलों पर बैठकर उसका रस लें। ' चम्पक बरनी ' नायिकाओं के हाथ वे आसानी से नहीं लगते। अर्थात् कृष्ण पिछलगुए नहीं। इसी लिए मदन को स्वयं उन्हें जीतने के लिए अपने धनुष बाण को लेकर चढ़ाई करनी पड़ी है। उन्हें आकृष्ट करने वाली राधिका ही वह चम्पा कुसुम है, जो सफल हो सकी हैं। इसी असाधारण विजय का सुख भी असाधारण है। असामान्य उपलब्धि ही असाधारण अनुभूति को जन्म दे सकती है। इस विजय गर्व में मदन ने तो अपने धन्वा की प्रत्यंचा उतार दी एवं राधिका तृप्ति की सुख-मदिरा पीकर सो रही हैं। कृष्ण जैसे वीतरागी को जीतने का सुख कितना असाधारण रहा होगा? संयोग-चित्र की पूर्णता कवि ने कम से कम रेखाओं में किस सामर्थ्य से अभिव्यक्त कर दी यह ध्यान देने योग्य है। चंपकांगी नायिका धनुष है जिस पर श्याम नायक की प्रत्यंचा चढ़ाकर मदन ने वाण चलाये हैं। अभिन्न हृदयों के संयोग का कितना अभिव्यंजक चित्र है। केवल वाह्य वर्णन तक न अटक कर कवि की दृष्टि अन्तर पक्ष तक जाती है और उसका भी सफलता पूर्वक उद्घाटन करती है। ' अरसाय रही सुखते ' कहकर रति के पश्चात के सुख एवं आत्म शांति का भाव दर्शाया गया है। विजय की अनुभूति भी संयोग का अन्तर पक्ष है कवि ने इसे भी देखा और दिखाया है।

संयोग के उपरांत हृदय और शरीर के समस्त दाह समाप्त हो जाते हैं। कवि ने व्यंजना की संश्लिष्टि से इसको भी ओझल नहीं रहने दिया। लतिका सी नायिका के वक्ष पर पड़ी माला ऐसी लगती है मानो उसी लता में फूले हुए फूल हैं। इस फूली

हुई लतिका के ऊपर नागिन की भांति वैणी विश्राम कर रही है ।

रीतिकालीन कवियों में यथार्थ व्यापारों के चित्रण की जो परम्परा थी उसके कारण उसमें अत्यधिक स्थूलता और एक विरसता आ गई थी । जीवन के एकान्त एवं गुह्य व्यापारों को यथा तथ्य रूप में सामने रखने की अपेक्षा कविता में इनका बोध कराया जाना चाहिए । जैसे स्वशब्द वाचकत्व दोष के कारण रसास्वाद में बाधा पड़ती है, उसी प्रकार अत्यंत स्थूल चित्रों से संस्कृत रुचि के व्यक्तियों के सौंदर्य-बोध को व्याघात होता है एवं औचित्य की मर्यादा भी टूट जाती है । रीति कालीन कविता में इस अभाव के कारण उसमें अनेक आक्षेप किये गए हैं । आज भी जब उसके सौंदर्य का उद्घाटन हो रहा है और उसके पक्ष में समर्थ स्वर उठ रहे हैं, पाठ्य पुस्तकों में कहीं भी उस प्रकार की रचनाओं का समावेश हुआ नहीं मिलता जो श्रृंगार की स्थूलता को सामने लाती हैं । उपर्युक्त रचना में भगवंतराय की औचित्यवादिता को देखने से ऐसा प्रकट होता है कि साधारण रूप से इनकी कविता में श्रृंगार की वैसी स्थूलता तो नहीं ही रही होगी जिससे रीतिकाल का अधिकांश कलेवर भरा हुआ है । इसके मूल में इनका रामभक्त व्यक्तित्व ही कारण रूप में रहा होगा ।

भूषण से तुलना

भूषण जैसे वीर प्रकृति के कवि ने भी नायिका के प्रगल्भ अंगों का चित्रण किया है । उनकी नायिका ने भी यौवन-समर किया है । श्याम कैशों में वहां भी श्याम सुभट की प्रतीक योजना है । पर भूषण के श्याम नायिका के पीछे पड़ते हैं, रति के लिए उसे तंग करते हैं, यहां तक कि नायिका में मधुर खीझ का भी आभास हो जाता है । नायक यहां नायिका के पीछे दौड़ता है । वह संयमी नहीं है । परन्तु भगवंतराय की राधा के नायक कृष्ण संयमी हैं । उन्हें जीतने के लिए नारी को प्रयत्न करना पड़ता है । यही भारतीय मर्यादा है, जिसका भगवंतराय ने निर्वाह किया है । चंपक के लिए भौंरे के सानिध्य को प्राप्त करने के समान यह व्यापार भी असाधारण है । भगवंतराय की इस विशेषता को भूषण के इस कवित्त के सापेक्ष्य में देखा जा सकता है :

नैन जुग नैनन सों पथमें लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरैं नहिं टारे हैं
अड़ि अड़ि पिलि पिलि लड़े हैं उरोज वीर
देखौ लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं
पिय को चखायो स्वाद कैसो रति संगर को
भये अंग अंगनिते केते मुठभेरे हैं
पाछे परे वारन को बांधि कहैं आलिन सों
भूषन सुभट एई पाछे परे मेरे हैं [1]

बिम्बविधानों की विशेषता और शैली में ओज गुण

मनुष्य का मस्तिष्क स्मृतियों का भांडार होता है। जिन घटनाओं या दृश्यों से हमारा साक्षात्कार होता है वे सब अवचेतन मन के कोष में एकत्र रहते हैं। कवि किसी दृश्य अथवा भाव का चित्र खींचने के लिए अपने काव्य में ऐसी प्रतिमाओं का निर्माण करता है जिससे उसको पढ़ सुन कर सामाजिक के अवचेतन मन के संस्कार या चित्र उभर कर चेतन मन के विषय बन जायें। कवि की इसी नूतन चित्र निर्मात्री प्रतिभा को काव्य भाषा में बिम्ब विधान कहा जाता है। यह बिम्ब विधान स्वयं कवि की अपनी प्रतिभा और उसकी प्रकृति पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जिन दृश्यों अथवा चित्रों में वह अधिक रम सका है, अथवा उसके हृदय की संवेदनशीलता के जो अधिक निकट हैं, अपने काव्य में उन्हीं का प्रयोग कवि विशेष रूप से करता है।

भगवंतराय स्वयं योद्धा थे और वीर प्रकृति के व्यक्ति थे। परिणामस्वरूप

1- भूषण ० ?

उनके श्रृंगार-चित्रों में वीरता सम्बंधी प्रतीक और वीरता सम्बंधी विम्बों की संघटना है।

'बदरा न होहिं दल आये हैं न भूपति के' प्रतीक के कवित्त में जिन प्रतीकों की योजना की गई है वे युद्ध क्षेत्र के और सामान्य रूप से वीर-रस के संदर्भ में गृहीत प्रतीक-योजना में स्थान पाते हैं, परन्तु भगवंतराय ने उन्हें वियोगोद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है। इसी प्रकार 'हरि को हराम मानो मैं न मधुकरन की, धरी है उतारि जेह चम्पे के धनुषते' में भी वीरता के वर्णन में आने वाला चित्र मधुर भाव में उतार दिया गया है।

इन दो उदाहरणों के अतिरिक्त 'सुजन समाज को प्रगट प्रफुल्लित कै चूमित मरुत चारु कैसरी सुतत है' प्रतीक वाला कवित्त भी उनके वीर-विम्ब विधानों का दिग्दर्शन कराता है। श्लिष्टोपमा अलंकार के माध्यम से कवि ने एक ओर वसंत का सरस श्रृंगारी वातावरण खींचा है तो दूसरी ओर उसे हनुमान के वीररूप में घटित कर दिया है।

इस प्रकार के वर्णनों में एक बड़ी शक्तिमत्ता होती है जो वीरता के स्थायी भाव उत्साह के संयोग के कारण बड़ी ही विदग्ध अनुभूति एवं सुखद स्फूर्ति जागृत करते हैं। यह विशेषता कहीं-कहीं तुलसीदास जी में और भूषण में देखी जा सकती है। सीता के वियोग में भगवान राम की निम्नांकित उक्ति वीरता का बिम्बबोध कराने वाले 'बगमेल' शब्द के कारण कितना सशक्त प्रभाव छोड़ती है -

'विरह विकल बलहीन मोहिं
जानेसि निपट अकेल
सहित विपिन, खग मधुकरन्ह,
मदन कीन्ह बगमेल'

भगवंतराय के काव्य में इस प्रवृत्ति का पूर्णरूप से संप्रवेश है जो उनके काव्य को विशेष महत्ता से मंडित करती है। इसकी पृष्ठभूमि में वास्तव में कवि का वीर-रूप ही निमित्त बनकर विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त उनके श्रृंगार वर्णन में ओज-गुण का भी सन्निवेश हुआ है। ओज गुण से मन में उत्साह और वीरता आदि भाव जागृत होते हैं। भूषण के श्रृंगार वर्णन में ओज गुण की स्थिति है पर उन्होंने वहां भी वर्ण संघटना की कर्कशता और क्लिष्टता द्वारा उसकी सृष्टि की है जैसे - ' अड़ि-अड़ि पिलि पिलि , लड़े हैं उरोज वीर ' आदि में इन कर्कश वर्णों के अतिरिक्त वर्गों के आद्य और तृतीय वर्ण भी ओजगुण के उपकारक माने गये हैं, जिन्हें भगवंतराय की इस पंक्ति में देखा जा सकता है - बालम बिदेस याते विरहिन मारिबे को, जुगनू न होहिं काम अगिनि जराई है ' इस प्रकार हम देखते हैं कि इनके श्रृंगार का ओज-गुण कोमल वर्णों पर आधारित है जो इनकी काव्य-कुशलता का प्रमाण है।

इस विवेचन के अनुसार कह सकते हैं कि भगवंतराय के श्रृंगार में भी उनके व्यक्तित्व का सन्निवेश है जो अपनी शैलीगत विशेषता स्थापित करता है। उनके काव्य में उपलब्ध होने वाले ये समस्त गुण उन्हें हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों की कोटि में बिठा सकने में समर्थ हैं। इनके कवित्तों की तुलना ' सेनापति ' और ' भूषण ' से विशेष रूप से की जा सकती है। इनकी अलंकार कुशलता की चर्चा करते समय हम सेनापति के साथ इनकी तुलना करेंगे।

छंद

काव्य और छंद : भावों के उत्स में एक कंपन होता है और कंपन से लय का सृजन होता है। यदि भाव शब्दों में व्यक्त होते हैं तो भाव को तरंगायित करने वाली लय छंद को जन्म देती है। बिना भाव के कविता संभव नहीं होती, इसलिए छंद भी कविता का अनिवार्य अंग है। छंद की मान्यता के संबंध में महर्षि अरविन्द के शब्दों को उद्धृत करना यहां अनुपयुक्त न होगा - ' मेरे विचार में यह समझना बड़ी भारी भूल है कि छंद या तुक कृत्रिम तत्व हैं, केवल बाह्य और निस्सार साज सामग्री हैं जो काव्यमय रूप की गतिधारा और सत्यता में बाधा डालती

है ।'[1] छंद शब्द का अर्थ है आच्छादन करना जिस प्रकार ब्रह्म को सांख्य की प्रकृति या वेदान्त की माया प्रकट करती है, उसी प्रकार अभिप्राय काव्य-शरीरी को प्रकट करने में छन्द से ग्रहण किया गया है।[2] छन्द में ही सारा ' नाम रूपात्मक जगत बंधा हुआ है, (वह) आत्मा और प्रजापति को आवृत कर लेता है '[3] अतएव मनना पड़ता है कि कविता और छंद का शाश्वत साहचर्य है ।

भिन्न प्रकार के भावों में एक सा कम्पन नहीं होता, परिणाम स्वरूप उनकी लयों में अन्तर पड़ जाता है । यही कारण है कि विभिन्न भावों को बांधने और प्रकट करने वाले छंदों में भावों के अनुरूप भेद हो जाते हैं । भावास्वाद रसात्मक होता है और संप्रयुक्त छंद रसास्वाद के साधक होते हैं । इन्हीं सब कारणों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि भिन्न भिन्न भाषाओं में पाई जाने वाली अपार और वैविध्यपूर्ण छन्द सम्पत्ति रस और भाव आदि की अनुरूपता के लिए ही उद्भाषित की गई है । गोस्वामी जी की निम्न चौपाई में इसका संकेत मिलता है :

' भाव भेद रस भेद अपारा, कवित दोष गुन विविध प्रकारा '[4]

रस और भाव की दृष्टि से 'कवित ' का विविध प्रकार से गुण-दोष विचार किया जाता है । ध्यान रहे ' कवित ' या कवित्त छन्द मात्र के लिए प्रयुक्त होता रहा है और यहां तुलसीदास जी का अभिप्राय छंद से ही है । कविता के आन्तरिक पक्ष को व्यक्त करने के लिए यदि कवि के पास समर्थ भाषा है तो सम्पूर्ण आन्तरिक सूक्ष्मताओं एवं लय भंगिमाओं को रूप देने के लिए छन्द की सहायता भी अनिवार्य होती है ।

यों भाव की स्थिति किसी न किसी रूप में मनुष्य के प्रत्येक चिन्तन और उसकी प्रत्येक क्रिया के पीछे निश्चित रूपेण रहती है, इसीलिए हर अभिव्यक्ति में

१- अरविन्द-३ पृ० १६१ त्रयमासिक आलोचना के आलोचनांक, पृ०२०३ में उद्धृत

२- वैदिक दर्शन, पृ० १८२

३- ऐ० ब्रा० २,१६ तै० ब्रा० ३०

४- मानस०

किसी न किसी परिमाण में ` लय ` खोजी जा सकती है। वैसे तो समाचार पत्रों के गद्य को भी कुछ लोग गाकर दिखा देते हैं। परन्तु कविता के छन्द में स्वर तथा लय का नियमन रहता है, उसकी गति पर नियंत्रण रहता है, आरोह अवरोह का एक मानदण्ड रहता है। बिना इन सब अंगों के कविता श्रीहीन प्रतीत होगी।

वास्तव में छन्द भाव सत्ता का वाह्य अनुमापक होता है। अत: कह सकते हैं, छन्द के विधान से भाव-विधान का उत्कर्ष-साधन होता है। भावों का संस्कार एवं परिष्कार करके उनमें एक स्तरीयता स्थापित की जाती है। छन्द की ऐसी ही सामर्थ्य के कारण कवि के भावों का आकार देने और संतुलित करने की शक्ति उसके छन्द प्रयोगों द्वारा समझी जा सकती है तथा उसका अनुमापन किया जा सकता है।

<u>प्रत्येक युग में कुछ विशेष छन्द प्रचलित रहे</u> : रीतिकालीन कवियों के सामान्य प्रयोग में आने वाले छन्दों की संख्या लगभग निश्चित थी। यद्यपि यह ठीक है कि इस सीमा के कारण रीतिकाल की कुछ संभावनाओं को आघात हुआ है परन्तु यह स्मरणीय है कि स्वयं कविता के इतिहास से यह तथ्य विज्ञापित होता है कि प्रत्येक युग की भाव-चेतना को वहन करने वाले उस युग के कुछ विशेष छन्द रहे हैं। सिद्धों, नाथों, संतों, भक्तों और वीरगाथा काल के कवियों का वास्तविक काव्य-वैभव उनके समय में कुछ विशेष मान्यता प्राप्त छंदों में ही आकलित हुआ है। उसी प्रकार रीतिकाल के वातावरण में ` कवित्त ` और ` सवैया ` को अन्य सभी छन्दों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ` कवित्त ` और ` सवैया ` को ब्रज भाषा का अपना छन्द माना है।[१] यहां हम केवल कवित्त की ही चर्चा करेंगे क्योंकि हमारे आलोच्य कवि भगवंतराय का यह सर्वप्रिय छन्द था। उनकी जितनी भी रचनायें मिलती हैं उनमें एक सवैया छंद है शेष सभी कवित्त छन्द में हैं। उनके साहित्यिक सृजन में भी इसी छन्द की प्रमुखता थी यह उनके दो संभावित ग्रंथों के नाम ` कवित्त रामायण ` और ` कवित्त सागर ` से भी प्रकट होता है।

१- आदिकाल० पृ० ११०

कवित अथवा कवित्त

यह वर्ण-वृत्त है। इसकी उत्पत्ति के सम्बंध में कई आचार्यों ने विचार किया है पर ठीक-ठीक समय नहीं निर्धारित कर सके। डा० नगेन्द्र पल्लव की भूमिका में पन्तजी के मत से बहुत अंशों में सहमति प्रकट करते हुए राजदरबारों में भाटों द्वारा इसका प्रथम प्रयोग स्वीकार करते हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि तुलसी दास जी के समय तक यह खूब प्रचलित हो गया होगा तभी उनके काव्य में इसका निखरा हुआ रूप प्राप्त होता है।[2] इसके सम्बंध में डा० नगेन्द्र ने लिखा है ` कुछ कलाविदों की सम्मति में घनाक्षरी कवित्त हिन्दी का औरस पुत्र न होकर पोष्य पुत्र है[3] परन्तु ` परिमल ` की भूमिका में ` निराला ` जी ने लिखा है ` यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाये तो वह यही होगा `। ` निराला ` जी की इस मान्यता को देखते हुए सम्भव जान पड़ता है कि व्रजभाषा पर यह टिप्पणी करते समय उनके ध्यान में यह ` कवित्त ` छन्द भी रहा होगा। 'व्रजभाषा में भाषा जन्य जीवन था, जो बुद्ध के बाद के संस्कृत कवि और दार्शनिकों में नहीं। और यही जातीय जीवन भाषा की प्राण-शक्ति होती है।"[4] कवित्त छन्द की विशदता और उसकी गुरुता आदि विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ` निराला ` जी का यह कथन सारगर्भित लगता है। ` ध्रुपद ` की गायिकियों के लिए इसकी सर्वाधिक अनुरूपता भी इसका महत्व प्रतिपादित करती है क्योंकि ` ध्रुपद ` भारतीय संगीत का उत्कर्षपूर्ण विकास है। सम्यक् रीति से विचार करने पर यद्यपि संस्कृत के अनुष्टुप छन्द के साथ

१- दे० कविता० पृ० २५
२- आदिकाल० पृ० ११०
३- दे० कविता० पृ० २५२
४- प्रबंध प्रतिमा पृ० २७०

इसकी पूर्ण संगति नहीं सिद्ध होती परन्तु दोनों की असंबद्धता भी नहीं प्रकट होती । अनुष्टुप छन्द के कुछ तत्वों का निश्चित रूप से इसके अन्तर्गत सन्निवेश[1] हुआ है । ' कवित्त ' ध्रुपद के सर्वाधिक अनुकूल है और गायिकी के कुछ रागों के लिए तो यह एक मात्र छंद है । ध्रुपद गवैयों के घरानों में चली आती अनुश्रुतियों के अनुसार इस छंद का आविर्भाव ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के आसपास ही हो गया था । परन्तु इस अनुश्रुति कीपरीक्षोपरान्त ही मान्यता हो सकती है । संभव है संस्कृत के अनुष्टुप छंद में भारतीय संगीत के स्वरों का भी सन्निवेश करके इसे पहले संगीतज्ञों ने अपनाया हो, तत्पश्चात् इसकी प्रभविष्णुता के कारण इसे कवि समाज ने ग्रहण कर लियाहो। इसका ' कवित्त ' नाम पड़ना भी एक सम्मान का विषय जान पड़ता है । कविता के संपूर्ण संभार को ' कविताई ' कहते हैं । इस प्रकार जो कविताई को दर्शा सके वही कवित्त हुआ । सवैया इसकी गंभीरता के समक्ष हल्का बैठता है । यह अनुमान किया जा सकता है उसमें[2] संगीत का साधारणीकृत रूप है । सवैया में शास्त्रीय विशदता के स्थान पर लोकरुचि की चंचलता और माधुर्य का विशेष संयोग मिलता है । इसीलिए रीतिकाल के ग्रंथ स्वतंत्र या संग्रह ग्रंथों के नामकरण के समय ' कवित्त ' को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है । बहुत संभव है इसका कारण ' कवित्त ' नाम में निहित एक विशिष्टता और गरिमा रही हो जो सवैया के साथ कभी नहीं बंध सकी थी । अतएव इस छंद को रीतिकाल के अन्य सभी छन्दों का शिरमौर कहा जाना अनुचित न होगा । अपनी इन विशेषताओं के कारण यह छंद भगवंतराय को सर्वाधिक प्रिय हुआ क्योंकि उनके भावों की गुरुता, गंभीरता और लय की विशदता अन्य किसी छन्द के अंचल में नहीं बंध सकती थी । उनके लिखे जितने भी कवित्त प्राप्त हैं वे सब ३१ वर्णों में हैं, जिन्हें पिंगल ग्रंथों में ' मनहर ' नाम दिया गया है । उनके इन छन्दों में संगीत की अद्भुत योजना है । ध्रुपद के अनुकूल गायिकी में स्वरताल और लय की गति पर जो ध्यान दिया जाता है,

---

१- वृहद् पिंगलम् पृ० २४०

२- तुलना कीजिये दे० कविता० पृ० २५३

उसमें स्वरों की आन्तरिक अभिव्यक्ति, राग विशेष पर आधारित रहती है। कुछ राग ऐसे हैं जिनमें ध्रुपद की रचना केवल `कवित्त` छन्द में ही अनुकूल होती है, यह हम कह आये हैं। उन रागों में से यहां विलावल, अड़ाना और बिहारी के नाम लिए जा सकते हैं। देव का कवित्त छंद में विलावल राग का एक ध्रुपद कितना सुंदर बन पड़ा है -

अंजनी को नंदन, आपतो निरंजन, देव -
रामबान ऐसी समरथ जग आनको ?

भगवंतराय के कवित्तों में संगीत-तत्व : भगवंतराय के कवित्त रागों की पूर्णता की दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट प्रमाणित होते हैं। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है :

बदरा न होहिं, दल आये मैन भूपति के,
बुंदिया न होहिं, एरी बान झरलाई है,
दादुर न होहिं, ये नकीब चहुं ओर बोलें,
मोर ये न होहिं, हांक सूरन सुनाई है
बकुला न होहिं, सेत धुजा भगवंत सिंह
चपला न होहिं, समसेरें चमकाई हैं
बालम बिदेस याते बिरहिन मारिबे को
जुगनू न होहिं काम अगिनि जगाई है।

यह कवित्त मल्हारी राग में है। मल्हारी राग ऋतु वाचक है। इस राग को ऐसे स्वरों में नहीं गाया जा सकता जो प्रात:काल या सायंकाल गाये जाते हैं। यही इसकी विशेषता है।

प्रस्तुत कवित्त में शुद्धापन्हुति अलंकार है। इसमें एक का निषेध करके दूसरे की स्थापना होती है। निषेध और स्थापना को शब्दों के साथ-साथ लय के माध्यम से भी प्रकट किया गया है। निषेध वाचक पद `बदरा न होहिं` अवरोह लय में तथा स्थापना वाचक पद `दल आये मैन भूपति के` आरोह में हैं। भावों की गूढ़ता को लय

लय प्रकट करती है । अभिप्रेत भाव को छंद-विधान में स्वरों की निबंधना से कवि ने अभिव्यक्ति दी है । इन सूक्ष्मताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि कवि भगवंतराय को स्वरलय के वैचित्र्य पूर्ण प्रयोगों से संगीतात्मक पूर्णता को ' छन्द ' में प्रकट करने में उल्लेखनीय सफलता मिली है । उनके छन्दों में भाव के उतार चढ़ाव के साथ यति विधान भी अत्यंत कुशलता पूर्ण है । पिंगल के नियमों में बंधकर वे आठ-आठ वर्णों पर ही यति विधान न करके उसे भाव की प्रेरणा पर निर्भर करते हैं, जिससे यति वैचित्र्य का समावेश हुआ है । जैसे ' बदरा न होहिं ' में छह वर्णों पर यति है तथा ' दल आये मैन भूपति के ' में दस वर्णों पर यति है । भाव का प्रवाह छन्द के कारण कहीं बाधित नहीं होता वरन् उत्कर्ष को प्राप्त होता है । छन्द इस प्रकार भावोन्मेष में सहायक होता है ।

भगवंतराय के छन्द-विधान को संगीत के सूक्ष्म तत्व महत्व प्रदान करते हैं । ध्रुपद की गूढ़ गायिकी के लिए अपने कवित्तों को जितनी पूर्णता से इन्होंने ढाला है, निश्चय ही वह प्रशंसनीय है ।

अलंकार, रीति और गुण

भगवंतराय में अलंकरण प्रवृत्ति : भगवंतराय के काव्य के अनुशीलन से सामान्यरूप से यह धारणा बन जाती है कि वे काव्य में अलंकार योजना को विशेष महत्व देते थे । यों तो रीतिकाल के सभी कवियों की प्रवृत्ति अलंकार सज्जा की ओर विशेष रूप से उन्मुख थी पर उनमें भी केशव, जसवंतसिंह आदि कवि इस ओर विशेष प्रवृत्ति रखते थे । अलंकार प्रयोग की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों के दो वर्ग मिलते हैं, एक तो वे थे जो काव्य में अलंकार योजना को ही सर्वाधिक महत्व देते थे, दूसरे अपेक्षाकृत कम । इस दृष्टि से भगवंतराय पर विचार करते समय यह तो निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनका विशेष झुकाव किस ओर था, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि वे काव्य में अलंकार-योजना की दृष्टि से बड़े ही कुशल और सफल सिद्ध होते हैं ।

अलंकार शोभा सर्जक हैं : अलंकारों का महत्व काव्य में लगभग सभी ने स्वीकार किया है। इससे काव्य का उत्कर्ष-साधन होता है एवं कवि का अभीष्ट भाव इनके सहारे अधिक संवेद्य और अधिक स्पष्ट हो कर प्रत्यक्ष होता है। अलंकारों को काव्य का ` अनित्य धर्म ` माना गया है पर यह नहीं भुलाया जा सकता कि श्रेष्ठ कवियों के काव्य में अलंकारों के ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं, जो सर्वतोभावेन रस के उपकारक होते हैं, इतना ही नहीं महाकवियों की रचनाओं में रस और भाव तथा अलंकार में अन्योन्याश्रयत्व रहता है। मानस० से एक उदाहरण दिया जा सकता है -

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी
मानहुं रोष तरंगिनि बाढ़ी
पाप पहार प्रगट........
ढाहत भूप रूप तरु मूला
चली विपति बारिधि अनुकूला[1]

गोस्वामी जी ने इस शक्ति शाली रूपक के प्रयोग द्वारा अपने अभिप्रेत भाव को ऐसा मूर्त रूप दिया है, जो किसी अन्य अभिव्यक्ति प्रकार से संभव नहीं प्रतीत होता। सिद्धान्तत: अलंकार भले ही काव्यगत सौंदर्य के ` अनित्य धर्म ` माने जांय, पर इस प्रसंग में गोस्वामी जी ने रूपक को ` नित्य धर्म ` के स्तर तक पहुंचा दिया है। यह रूपक काव्य-शोभा का सर्जन करता है, केवल श्रीवृद्धि नहीं। अलंकारों के कुछ ऐसे ही उच्चस्तरीय प्रयोग भगवंतराय में भी मिलते हैं। उनका हनुमान जी के `नैन वर्नन` का छन्द उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जाता है :

सील भरे सुखद सनेह भरे सोभित
जगत उज्यारे प्यारे जानकी के कंता के
कृपा भरे त्रपा भरे निपट निकाई भरे
रछा भरे सांत रस मंडली के रंता के
भनै भगवंत रीझि खीझि भरे
भारे रन-रोस तेज भरे खरे रथ अंता के

1- मानस०

लदा-लदा विघन जे तदान विडारिबे कौ
बन्दौ पिंगलोचन जे रदा अंदा अंता के ।

इस छंद में प्रधानता अनुप्रास की है, अर्थालंकार नगण्य है ।

अलंकारों के साधु-प्रयोग : अनुप्रासों का विधान ऐसी कुशलता से किया गया है कि उनके द्वारा निर्मित ध्वनियों के आवर्त और सभंग स्वर-विस्तार कवि के अभिप्रेत भाव के अनिवार्य अंग बन गये हैं । ध्वनियों के आवर्त एक और तो कवि के मानस में पुन: पुन: जागृत होने वाले हनुमान जी के नेत्रों के ध्यान से उत्पन्न की गई अनुभूति को सुलभ करते हैं तो सभंग स्वर-विस्तारद्वारा कवि के भक्ति-विह्वल चेतोविस्तार की अनुभूति भी सहज प्रेषणीय बन जाती है । संभवत: अलंकारों के ऐसे ही प्रयोगों को लक्ष्य कर के दण्डी ने ' काव्य शोभा करान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते '[1] कहा होगा । मम्मट ने कहा है कि कभी कभी अलंकृति काव्य में नहीं होता पर श्रेष्ठ कवि ' सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि '[2] जब उसका प्रयोग करते हैं तो वह अनिवार्य और अपरिहार्य हो जाते हैं तथा गुणों के समान अचल स्थिति प्रतीत होने लगते हैं । भगवंतराय के नैन वरनन में कवि-हृदय के भाव-अनुराग, श्रद्धा एवं दैन्य आदि अनुप्रास के सहारे मूर्तिमान से हो गये हैं ।

शब्दालंकारों के प्रयोग में भगवंतराय की सफलता और कुशलता अत्यंत महत्वपूर्ण है । ' अनुप्रास ' के अनेक विध प्रयोग उनके काव्य को प्रभविष्णुता प्रदान करते हैं । उदाहरणस्वरूप -

जौलों चक्रधारी चक्र चाह्यौ है चलाइबे कौं
तौलों ग्राह-ग्रीव पै अगारु चक्र चलिगो ।

उपर्युक्त पंक्तियों में ' चक्र चाह्यौ है चलाइबे कौं ' में शब्दों की आवृत्ति ध्वनि के आवर्त उठाती है । इस प्रकार ' ध्वनि ' अर्थ को प्रकट करने में या उसका बोध कराने में

१- काव्यादर्श :२: १

२- भा०का० शास्त्र० पृ० ७५

सहायक होती है । जिस प्रकार चक्र की गति आवर्त्त बनाती है, उसी प्रकार `चक्र चाहृयौ है चलाइबे कौ ` में ध्वनि तरंगें भी वर्तुलाकार उठती हैं । भगवंतराय की कविता का यह प्रधान गुण है । अंग्रेजी साहित्य में ` ओनो मोटोपिया ` - ध्वन्यार्थ व्यंजना - का जो गुण होता है वही भगवंतराय ने अनुप्रास-प्रयोग की कुशलता में प्रमाणित किया है । श्रुत्यानुप्रास के प्रयोग से कर्ण-माधुर्य की सृष्टि की जाती है । मुक्तक रचनाओं का रसास्वादन प्रधान रूप से श्रवणद्वारा ही होता है और इसी लिए काव्यमात्र को आरंभ में आचार्यों ने ` श्रव्य काव्य ` संज्ञा दी थी । चूंकि काव्य विशेषकर मुक्तक का श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से ही प्रथम सम्पर्क स्थापित होता है, इसलिए कवि के लिए उसे अधिक श्रुतिप्रिय बनाने की समस्या प्रधान रूप से रहती है । अलंकार विधान के अन्तर्गत श्रुत्यानुप्रास द्वारा काव्य को श्रुतिमधुर बनाने की सबसे सूक्ष्म और कलात्मक नियोजना संभव होती है । इसमें एक ध्वनि बार बार नहीं आती, पर ऐसी ध्वनियां आती हैं, जो एक ही स्थान से उच्चरित होने के कारण ध्वनि मैत्री का सूक्ष्म और मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करती हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रुत्यानुप्रास का सफल नियोजन काव्य की उत्कृष्टता का सहायक होता है । भगवंतराय इसके निर्वाह में सफल हुए हैं । उनके काव्य के निम्नांकित उदाहरण में देखा जा सकता है कि कवि ने श्रुतिमधुरता को अनुकूल शब्द प्रयोगों द्वारा कितना अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है -

` दनुज सघन बन दहन कृसानु महा
औज सो विराजमान अवतार हर को `

इस उदाहरण में ` त ` वर्ग की ` द ` और ` न ` तथा ` स ` ध्वनियों की आवृत्ति के द्वारा श्रुतिमधुरता नियोजित की गई है । भगवंतराय के काव्य में ऐसे उदाहरणों की बहुलता है । इस विशेषता का रहस्य भाषा और संगीत पर अधिकार प्रतीत होता है । काव्य की यह विशेषता उसे स्मरणीय बना सकने में समर्थ होती है एवं रस-बोध के साथ ही साथ अर्थ भी झंकृत कर देती है । भगवंतराय ने श्लेष और श्लेष पुष्ट उपमा के भी बड़े ही समर्थ प्रयोग किये हैं । हिन्दी के कई श्रेष्ठ कवियों के

हृदय में इसकी सिद्धि के लिए ललक रही है। 'केशवदास' और 'सेनापति' के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन अलंकारों में शब्द-प्रयोग द्वारा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार के काव्याभ्यासी पाठक या श्रोता को थोड़ा सा प्रयत्न करके अर्थ निकालना पड़ता है। अर्थ को बांधने वाली गांठ के खुल जाने पर मन कवि की कुशलता से अभिभूत हुए बिना नहीं रहता। 'केशव' ने श्लेष पुष्ट उपमा-अलंकार के फेर में जो प्रयास किये हैं, वे प्राय: बौद्धिक व्यायाम ही प्रतीत होते हैं, अत: उन्हें काव्य दृष्टि से अधिक सफल नहीं माना गया। 'पाण्डव की प्रतिमा सी देखो' छंद का उदाहरण केशव के अलंकार प्रयोग के भोड़ेपन की दृष्टि से बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ है। 'सेनापति' को इस दृष्टि से विशेष सफलता मिली है। उन्होंने प्रयत्न पूर्वक अपनी काव्य विशिष्टता सिद्ध करने के लिए ही उसकी उद्भावना की थी। दो अर्थों के निर्वाह की कसौटी पर अपने कवित्तों को खरा उतार देने का उन्हें गर्व था :

'सेवक सियापति को, सेनापति कवि सोई
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की ॥[१]

सेनापति ने बड़ी ही सफलता के साथ इन दो अर्थों वाले कवित्तों में अर्थ निर्वाह किया है। उनकी समस्त रचनाओं में ऐसी रचनाओं का परिमाण भी कम नहीं है। यहां हम भगवंतराय का एक कवित्त उद्धृत करते हैं जिसमें कवि ने छेकानुप्रास के प्रयोग से अर्थ चमत्कार ही नहीं अर्थ गौरव की सृष्टि की है। दो-दो ध्वनियों की मैत्री के द्वारा जो छेकानुप्रास की विशेषता है - प्रतिपाद्य अर्थ का बड़ा ही विदग्ध विधान किया है। दो प्रतिपाद्य पक्ष हैं, दो अर्थ हैं, और दो-दो ध्वनियों की मैत्री से उसे व्यक्त कराने में कवि ने अत्यधिक कुशलता प्रदर्शित की है। निम्नांकित उदाहरण में 'स' 'म' 'प' और 'र' आदि व्यंजनों की क्रमानुसार आवृत्ति से छन्द में कितनी मधुरता आ गई है यह ध्यान देने योग्य है :

१- क०र० पृ० २

सुजन समाज को प्रगट प्रफुल्लित कै
चूमित मरुत चारु केसरी सुतत है
तारापति परम प्रसन्न रहैं जासों सदा
कुमुद सुखेन हरि रिच्छ हितवंत है
भनै भगवंत सीता रामहिं भजत नीके
समर सहाइ उग्र ओजस अनंत है
मान गढ़ भंजिवे को महा बालधी को बाल
आयो हनुमान जैसे आवत बसंत है ।

अब उक्त कवित्त को 'श्लिष्टोपमा' की दृष्टि से देखिये । इसका एक अर्थ बसंत-पक्ष में घटित होता है, दूसरा हनुमान पक्ष में । लंका-दहन के अवसर पर हनुमान की पूंछ से लाल लपटें निकल रही हैं - बसंत ऋतु में टेसू और सेमल के रक्त वर्ण के पुष्प विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं : इस प्रकार हनुमान की पूंछ बसंत - ऋतु का प्रतिरूप है । यहीं से श्लेष गर्भित दोनों अर्थों के सूत्र हाथ लग जाते हैं । बसंत मानियों के मान रूपी गढ़ को भंजित करता है तो हनुमान ने लंका-गढ़ के मान=घमंड को दलित किया है । बसंत ओज(शुक्र) को उग्र कर के समर=स्मर की सहायता करता है तो हनुमान अपने हृदय में अनंत ओज(उत्साह) भर कर समर=युद्धभूमि के बहुत बड़े सहायक हैं । उधर बसंत ऋतु में तारापति=चन्द्रमा सदैव प्रसन्न रहता है(अधिक उज्ज्वल और प्रकाशयुक्त दिखाई पड़ता है) तो हनुमान से तारापति=सुग्रीव प्रसन्न हुए हैं । बसंत के आगमन से कुमुद सुखेन=सुखी हो जाते हैं; अर्थात् खिल उठते हैं, तथा बन-पशु बन्दर और भालुओं का भी हित-साधन होता है(फल फूल होने से उनका उदर भरता है) तो इधर हनुमान से कुमुद, सुखेन और राम-सैना के अन्य वानर-भालुओं का हित साधन हुआ है (अर्थात् उनके प्राणों का संकट कटा है) बसंत-ऋतु में पवन के संयोग से चारों ओर केशर बिखर जाती हैं, जिससे सुजन-समाज को हर्ष होता है, तो इधर हनुमान के लंका-दाहक रूप देखकर राम-पक्ष का समर्थन करने वाले साधु व्यक्तियों को परम आनन्द की प्राप्ति हुई है और सुन्दर केसरी सुत हनुमान को पवन प्रफुल्लित होकर चूम रहा है ।

उपर्युक्त विवेचन से भगवंतराय के अलंकार-कौशल पर प्रकाश पड़ता है । सेनापति के किसी भी श्रेष्ठ कवित्त के साथ उनके इस कवित्त की तुलना की जा सकती है ।

अलंकारों को प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जाता है । एक ' भाव सह जात ' होते हैं दूसरे ' भाव अनुजात ' । भाव के ही साथ जबउसी गहराई से अलंकारिकता उद्भूत होती है तथा अभिव्यक्ति को समृद्धिवान बनाकर उसकी प्रभावोत्पादकता में योग-दान करती है तब अलंकार अपने पूर्ण गौरव पर प्रतिष्ठित होते हैं । इस प्रकार भाव की संवेद्यतामें वृद्धि होती हैं एवं अर्थ बोधिनी क्षमता भी अधिक आ जाती है । इस स्थिति में अलंकार ' हारादिवत् ' अर्थात् आरोपित नहीं होते । ये अलंकार काव्य के अंतरंग के ही व्यक्त अथवा प्रकट रूप होते हैं । और ऐसे ही अलंकारों के प्रयोग में किसी कवि की कसौटी होती है ।

कवि भगवंतराय को ईश्वर की दीन वत्सलता की अभिव्यंजना करनी इष्ट है । दीन के रक्षणार्थ हृदय में उठने वाली आतुरता प्रत्येक दशा में असामान्य और असाधारण होगी । लोक में घटित होने वाले साधारण व्यापारों से उस सर्वशक्तिमान के गुणों का बोध नहीं कराया जा सकता । ईश्वर का वह सामान्य स्वभाव भी लोक-दृष्टि में कितना असाधारण होगा । इस असाधारण व्यंजना के लिए कवि को जिसे युक्ति का आश्रम लेना पड़ेगा वह लोक में अतिशयोक्ति से भी बढ़ कर ' अत्यंतातिशयोक्ति ' होगी ।

निम्नांकित उदाहरण में देखिये कि ' अत्यंतातिशयोक्ति ' अलंकार भी भाव के साथ ही उद्भूत हुआ है -

' जौलों चक्रधारी चक्र चाह्यो है चलाइवे को
तौलो ग्राहग्रीव पै गारे चक्र चलि गो '

इसी प्रकार लंकादहन के प्रसंग पर हनुमान की पूंछ ऐसे कौतुक करती है कि अनेक विस्मय-कारी भावों का उदय होता है । विस्मय भाव की तीव्रता इतनी अधिक है कि बुद्धि निश्चयात्मक स्थिति में नहीं पहुंच सकती । अतएव जब वह संदेहात्मक ढंग से कुछ कहे भी तो वह हृदयगत भाव की सच्ची अभिव्यक्ति होगी । इस प्रकार स्वाभाविक भाव की सम्प्रेषणीयता बढ़ गई है यह ध्यान देने योग्य है :

' रामदल बादल को इन्द्रधनुराजै कैधों
फहरै फतूह यों निसान बड़े सान को
कै अपार पारावार नापिबे को दंड कैधों
कै असंड कालदंड घोर घमसान को '

इस प्रकार के उदाहरणों से स्पष्ट है कि भगवंतराय को अलंकार प्रयोग में बहुत अधिक सफलता मिली है। उन्हीं के समय में उनकी प्रतिभा प्रमाणित हो चुकी थी। दलपतिराय एवं वंशीधर के ` अलंकार रत्नाकर ` में उदाहरण रूप में उनके कवित्तों का ग्रहण किया जाना इसे पुष्ट करता है।

गुण

भगवंतराय के काव्य में ` दश ` गुणों की स्थिति : अलंकारों के अतिरिक्त भगवंत राय की रचनाओं में समस्त काव्य गुणों का सुंदर समावेश है। गुण काव्य के नित्य धर्म कहे गये हैं। नित्य धर्म का तात्पर्य है कि काव्य की स्थिति में इनकी अनिवार्यता रहती है। इसीलिए रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म कहा है। गुणों के कारण ही चित्त द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त होकर रस-दशा को प्राप्त होता है। इस प्रकार काव्य में गुणों का सन्निवेश उसके सिद्धत्व का परिचायक होता है, इसमें दो मत नहीं। यह अवश्य है कि कोई उसे रस का विषय मानते हैं और कोई शैली का। हिन्दी के दो आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दर दास क्रमश: इन्हीं मान्यताओं के पक्ष में अपने विचार प्रकट कर गये हैं।

इसके अतिरिक्त गुणों की संख्या नियत करने में भी आचार्यों में मतैक्य नहीं हुआ। सामान्यतया मम्मट के बताये दश गुणों की मान्यता ही अधिक है। इन दश गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों में करके कुछ लोग केवल तीन गुण, माधुर्य, ओज और प्रसाद को ही प्रमुख मान्यता देते हैं। यहां भगवंतराय की रचनाओं में मम्मट के ही बताये दश गुणों का उद्घाटन किया गया है।

माधुर्य गुण में आल्हाद और चित्त को द्रवित करने की शक्ति होती है। श्रुति सुखदता, समास-रहित सत्ता और भावमयता के कारण निम्न पंक्तियों में इसका अवलोकन किया जा सकता है :

` जनमन रंजनी हैं गंजनी विथा की भय भंजनी नजरि अंजनी के लँड़दार की। `

अथवा

' छपा को छपाय छपि जान दे छपाकर को
आऊंगी कन्हैया पै जुन्हैया नैक जान दे '

छपा,छपाकर,कन्हैया और जुन्हैया शब्द अत्यंत मधुर ध्वनि व्यंजक होने के साथ एक बाल सुलभ तुतलाहट का संकेत एवं उसका भोलापन भी दर्शाते हैं। माधुर्य गुण की अनुभूति के साथ वर्णों की सुकुमारता भी है अत: 'सुकुमारता ' गुण भी इन पंक्तियों में प्रकट है।

ओजगुण का प्रयोग वीर वीभत्स और रौद्र रसों की सिद्धि के लिए किया जाता है। इसके अन्तर्गत उदात्त भाव तथा सामान्यतया कर्कश क्लिष्ट वर्ण संघटना रहती है, पर भगवंतराय की रचनाओं में यह शब्दों का कौतुक बनकर नहीं आया है, जैसा कि प्राय: कवियों ने किया है। यहां ' ल ' जैसे कोमल वर्ण के द्वित्व प्रयोगों से इसकी निपष्त्ति कराई गई है :

' महि से उछल्ला वीर सब दल मल्ला
आज रावण मुहल्ला पर हल्ला हनुमान को '

प्रसाद गुण में अर्थ या भाव अत्यंत सहजता पूर्वक सामाजिक के हृदय में भासित हो जाता है। क्लिष्टता के विपरीत सुबोधता ही इसका सबसे बड़ा लक्षण है। यह गुण सभी युग के श्रेष्ठ कवियों में प्रचुर रूप से पाया गया है। भगवंतराय की रचनाओं में भी यह पर्याप्त मात्रा में उपस्थित है :

' अज्ञा करि प्रभु को अवज्ञा करि वैरिन को
जन की प्रतिज्ञा को पलैया पौन पूत है । '

इस छंद में समतागुण भी विद्यमान है, क्योंकि पूरे छंद में बंध की एक रूपता एवं शैली का भी पूर्णरूप से निर्बाह मिलता है। इसके अतिरिक्त अर्थ व्यक्ति गुण भी इसके अन्तर्गत विद्यमान है। शब्दों और पदों के द्वारा अर्थ स्वत: व्यक्त हो जाता है, इसके लिए आयास की अपेक्षा नहीं। पूरे पद में प्रभावात्मकता भी अत्यंत प्रकट है अत: यहां उदारता गुण की भी स्थिति है। कवि ने कितनी सरलता से अर्थ का बोध कराया है, यह ध्यान देने योग्य है।

कान्तिगुण जहां कवि नवीन कल्पना से किसी वस्तु या भाव का उज्ज्वल प्रकाशन

करता है वहां कान्तिगुण विद्यमान रहता है । यह गुण भासित या प्रकाशित रहता है और अत्यंत कमनीय होता है ।

' हरि को हराय मानों मैन मधुकरन की
घरी है उतारि जहि चम्पै के धनुष ते '

समाधिगुण भगवंतराय की रचनाओं में समाधिगुण का समावेश बड़े ही स्वाभाविक रीति से हुआ है और प्रचुर भी है । आचार्य वामन द्वारा निर्देशित लक्षण 'आरोह के बाद अवरोह ' के क्रम में ही इस गुण की उपलब्धि भगवंतराय की है यह उनके निम्नांकित उदाहरण से प्रकट है :

बदरा न होहिं, दल आये मैन भूपति के
बुदिंया न होहिं, एरी बान भर लाई है '

उक्त कवित्त में अर्थका संगीत द्वारा ही सिद्ध किया गया है । इसमें एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु में ठीक ढंग से आरोपित किया गया है, यह भी दृष्टव्य है ।

रीति

विषयानुसार रीतियों के प्रयोग : रीति शब्द शैली या मार्ग के विशिष्ट अर्थ में गृहीत है । ' गत्यर्थक रीङ धातु से करण अर्थ में क्तिन् प्रत्यय होने से रीति शब्द की निष्पत्ति हुई है । भोज की रीति की व्युत्पत्ति मूलक परिभाषा इस प्रकार है - ' रीङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते ' यह रीति गुणों से संबंधित होती है । इसमें शैली तत्व भी निहित रहता है, जो कवि-स्वभाव पर निर्भर करता है । इस प्रकार गुण और पद-रचना को रीति के अंतर्गत मान्यता मिली है । गुण रस के धर्म माने जाते हैं और पद रचना तो स्वरूप का निर्मित मार्ग होता है । इन्हीं पर आधारित होने के कारण रीति की स्थिति सत्काव्य में अत्यंत व्यापक रूप से विद्यमान रहती है । स्वरूप से लेकर आत्मा तक उसकी पैठ

१- भा०का० शास्त्र० पृ० ३६

रहती है और वह दोनों को प्रभावित करती है, इसीलिए कुछ आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा माना है।

रीति का वर्गीकरण करने में भी अपनी अपनी मान्यताओं के अनुसार आचार्यों में मतवैभिन्य रहा है। सामान्यतया इनकी संख्या तीन मानी जाती है जो वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली नामों से अभिहित की गई है।

भगवंतराय की रचनाओं में 'दश गुणों' की स्थिति देखी जा चुकी है, इसलिए उनकी रचनायें 'सर्व गुण लंकृता' वैदर्भी रीति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। दण्डी और वामन आदि आचार्यों ने इसे सर्वश्रेष्ठ रीति ठहराया है क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी गुणों की स्थिति रहती है।

वैदर्भी रीति के साथ भगवंतराय की रचनाओं में गौड़ी रीति का भी ग्रहण है। वीर, रौद्र और भयानक आदि रसों की निष्प्रति के लिए कवि को इसका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। सुन्दरकाण्ड के लंकादहन प्रकरण में गौड़ी रीति के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं -

'संको कुंभ करन उदंको हियो रावन को
लंक हहलानी डंका सुनै हनुमान को'

इस प्रकार भगवंतराय का काव्य अलंकार गुण और रीति की सुन्दर और साधु योजना के कारण कलात्मकता और उत्तमता को प्राप्त करता है।

भाषा

मिश्रित भाषा की परम्परा : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने यह ठीक ही लिखा है कि ' प्राचीन काल में जो रचनाएं हिन्दी में हुई उनका विचार साहित्य की दृष्टि से न करके भाषा की दृष्टि से किया गया । '[१] आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का आविर्भाव होने के पूर्व अपभ्रंश साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित थी । उसमें साहित्य का निर्माण सं० १०५० तक और उसके बाद भी होता रहा । आचार्य शुक्ल जी ने इसे प्राकृताभास हिन्दी कहा है । यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि जिस प्रकार अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य शौरसेनी अपभ्रंश में है, उसी प्रकार आदिकाल का अधिकांश हिन्दी साहित्य भी शौरसेनी संवलित या ब्रजरंजित भाषा में है । इसका कारण यह है कि ' शौरसेनी या मध्यदेशी भाषा का आधार सर्व सामान्य काव्यभाषा में सदा से कुछ न कुछ रहा है ।.................विद्यापति का अवहट्ट तो शौरसेनी-रंजित है ही, उनके गीत भी शौरसेनी संवलित या ब्रजरंजित हैं । यही स्थिति सार्वदेशिक थी । कोई रचना हिन्दी के अंतर्गत क्यों मानी जाय, इसके लिए आधार था उसकी भाषा का ब्रजरंजित होना ।........ रासा ग्रंथों की भाषा ब्रजरंजित है, अत: वे हिन्दी के आभोग में ही आते हैं ।'[२] आचार्य शुक्ल जी ने अपभ्रंश की जिन रचनाओं को प्राकृताभास हिन्दी कहा है, उनका सामान्य गुण भी यही है कि वे ब्रजरंजित हैं ।

आदिकाल के दो कवियों ने अपनी काव्य-भाषा के विषय में संक्षिप्त निर्देश दिये हैं - उनमें एक हैं चंद और दूसरे विद्यापति । विद्यापति अपनी भाषा के विषय में लिखते हैं - ' बालचंद बिज्जावइ भाषा दुनहिं न लग्गइ दुज्जन हासा ।

देसिल बयना सबजन मिट्ठा तें तैसन जंपइ अवहट्ठा ।

विद्यापति का अवहट्ठा शौरसेनी अथवा ब्रजरंजित है, यह पहले बताया जा चुका है । पर चंद ने स्वयं रासो की भाषा के सम्बन्ध में एक समस्यामूलक कथन किया है जो इस प्रकार है :

उक्ति धर्मविशालस्य राजनीतिं नवं रसा : ।
षडभाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया ।।

१- हिन्दी साहित्य का अतीत, प्रथम खण्ड, पृ० ३१

२- हिन्दी साहित्य का अतीत, प्रथम खण्ड, पृ०३१

चंद का कहना है कि रासो में समाविष्ट धर्म, राजनीति, नवरस, पुराण और कुरान की ये उक्तियां षडभाषा में कही गई हैं । ये षडभाषा कौन हैं ? श्री सूर्य मल्ल बारहट ने वंशभास्कर में ` षडभाषा ` का निर्णय करते हुए संस्कृत प्राकृत(महाराष्ट्री) ब्रजभाषा(शौरसेनी) अपभ्रंश और पैशाची का नाम लिया है । छठी भाषा का नाम वे छोड़ गए हैं, शायद उसका निर्धारण वे नहीं कर सके । आचार्य विश्वनाथ मिश्रजी का कहना है कि रासो की छै भाषाओं में से पांच हैं - संस्कृत, अपभ्रंश, महाराष्ट्री, शौरसेनी और पैशाची । चंद की छठी भाषा के सम्बंध में वे लिखते हैं कि उनकी छठी भाषा या तो फारसी हो सकती है या डिंगल । फारसी के अनुमान का कारण है उपर्युक्त श्लोक का कुरान शब्द, और डिंगल के अनुमान का कारण उसमें प्रयुक्त डिंगल के अनेक शब्द और प्रयोग । रत्नाकरजी का कहना है कि ` अपने महाकाव्य में प्रतिष्ठित करके जिस भाषा को चंद ने राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा कहलाने का गौरव प्रदान किया वह छह भाषाओं- संस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय, अपभ्रंश तथा तीनों प्रदेशों की तत्सामयिक प्रचलित भाषाओं के मेल से बनी थी । अत: वह षडभाषा कहलाती थी ।... (कविवर बिहारी, पृ० ३६)

इस विवेचन से यह सिद्ध है कि आदिकाल के कवियों द्वारा प्रयुक्त काव्य की भाषा के दो मुख्य गुण हैं - (१) ब्रजरंजितता (२) मिश्रित रूप । दूसरी विशेषता अर्थात मिश्रित भाषा के प्रयोग की परम्परा भक्तिकाल में भी बराबर चलती रहती है । भिखारी दास जी ने तो कहा है - ` तुलसी गंग दुवौ भये सुकबिन के सरदार ।
इनकी कविता में मिलै भाषा विविध प्रकार।

तुलसी और गंग की ही भाषा में नहीं वरन् सूरदास की भाषा भी इस मिश्रण से अतीत नहीं है । उन्होंने ` तत्सम, अर्द्ध तत्सम, तद्भव, देशज, देशी-विदेशी, नये-पुराने, किसी भी शब्द से काम लेने में उन्होंने संकोच नहीं किया `[१] पर सूरदास की भाषा में तुलसी की अपेक्षा भाषा का मिश्रण कम है ।

भक्तिकाल में ब्रजभाषा में अन्य अनेक प्रान्तीय शब्द तथा रूप सम्मिलित हो गये, जिससे वह बड़ी ललित और व्यापक भाषा बन गई । ब्रज प्रान्त की बोलचाल की भाषा की अपेक्षा उसका रूप विलक्षण हो गया । इसका संकेत भिखारीदास के इस कथन में निहित है :

ब्रज भाषा हेत ब्रज बास ही न अनुमानौं
ऐसे ऐसे कविन की बानी हूसो जानिये

१- सूर की भाषा, पृ०५७६

दासजी ने रीतिकालीन काव्य-भाषा के आदर्श का निरूपण करते हुए लिखा है :

भाषा व्रज भाषा रुचिर, कहै सुकवि सब कोइ
मिलै संस्कृत पारसिहु , पै अति प्रकट जु होइ
व्रज मागधी मिलै अमर नाग जवनि भाषानि
सहज पारसी हू मिलै , षट विधि कवित बखानि `

इसका अर्थ करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है - ` ब्रज(शौरसेनी)मागधी (अवधी) अमर(संस्कृत)नाग(अपभ्रंश) जमन(खड़ी) और पारसी(फारसी) ये छह भाषायें व्रज भाषा में मिलती हैं । पर संस्कृत या अरबी-फारसी बहुत प्रकट(प्रचलित)ही मिलती हैं । पारसी के साथ सहज की शर्त लगी है, पर `जमन` के साथ नहीं । इससे स्पष्ट है कि ` जमन ` से कोई दूसरी भाषा अभिप्रेत है । इसलिए ` जमन ` भाषा का अर्थ पैशाची या खड़ी बोली जान पड़ता है ।[१] इससे यह सिद्ध होता है कि रीतिकाल में भी ब्रजभाषा में अनेक भाषाओं के शब्दों को मिलाकर लिखने का आदर्श कवियों के सामने था । दास भी चंद की तरह षडभाषा आदर्श के प्रकार-भेद के समर्थक प्रतीत होते हैं । यह मिश्रित भाषा का आदर्श बहुत व्यापक हो गया था । राजस्थानी कवि श्री स्वरूपदास ने अपनी ` पांडव यशेंदु चंद्रिका ` में लिखा है :

पिंगला डिंगला संस्कृत सब समझन के काजा ।
मिश्रित सी भाषा कही नामा करह कविराजा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल तक पहुंचते पहुंचते मिश्रित भाषा लिखने की परम्परा सुप्रतिष्ठित हो गई है । भगवंतराय और उनके मंडल के कवि भाषा की दृष्टि से इसी सीमा के भीतर आते हैं । मिश्रित भाषा लिखने से हिन्दी के शब्दकोष की वृद्धि हुई और उसकी अभिव्यंजना शक्ति भी समृद्ध हुई । पर मिश्रित भाषा लिखने का जोश इस सीमा तक पहुंच गया कि कवियों ने अपने को अन्य बोलियों के शब्दों तक ही परिमित नहीं रखा, उनके कारकचिन्हों और क्रिया के रूपों का भी वे मनमाना व्यवहार बराबर करते रहे । ऐसा वे केवल सौंदर्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धान्त के अनुसार नहीं । करना के भूतकाल के लिए वे छंद की आवश्यकता के अनुसार ` कियौ ` ` कीनौ ` कर्‌यौ ` ` करियौ ` ` कीन ` यहां तक कि ` किय ` तक रखने लगे । इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता प्राप्त न हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यक है ।`[२]

१- हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ० ६६
२- हि० इतिहास, पृ०२२२

<u>भगवंतराय की भाषा में मिश्रण और शब्दों की तोड़-मरोड़</u> : भगवंतराय की भाषा में उस परिमार्जन का स्पष्ट अभाव दिखता है जिसकी ओर शुक्ल जी ने संकेत किया है । उन्होंने छन्द के आग्रह से शब्दों को मनमानी रीति से तोड़ा है । लाज का ' लाजिनो ' मंजन का ' मांजिनो ' अंतक के ' अंता ' आदि रूप गढ़ लिये गये हैं । उनका यह सवैया शब्दों के तोड़ने मरोड़ने की प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण होगा -

कटूरी ताजिनो कीनना बाजिनो
मिलुकै लाजिनो माजिनो देवा
पूस के मास में फूस को तापनो
भूत को जापनो फांफरी सेवा '

आवश्यकतानुसार उन्होंने शब्दों को स्फीत और संकुचित भी किया है, जैसे खल-भल्ला, दहल्ला को स्फीत किया है तथा कुछ और ' टंका ' को संकुचित ।

यह कहा जा चुका है कि अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग हिन्दी काव्य में भक्ति-काल से ही होने लगा था । रीतिकाल में वह बढ़ा । भगवंतराय की भाषा में प्रयुक्त अरबी के नज़रि, फतूह, साहिबी और नकीब तथा फारसी के ताजी, समसेर, रुख़ आदि शब्दों के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने इनका प्रयोग खुलकर किया है ।

विदेशी भाषा के शब्दों के अतिरिक्त उनकी भाषा में क्षेत्रीय भाषाओं के शब्द भी प्राय : मिलते हैं, जैसे हहलानी, बहेल्ला, तिरहारि बोली के प्रयोग हैं और 'अवाती' तथा 'ताती ' का रूप बघेली के अनुरूप है । उनकी भाषा में देशज शब्दों की काफी बड़ी संख्या है पर उन्होंने इनके प्रयोग से अर्थ व्यक्ति और भाषा की व्यंजनात्मकता का अच्छा परिचय दिया है । अत: इससे उनकी भाषा में जीवन्तता आ गई है जैसे :

' भई लंक ज्यों <u>बहेल्ला</u> होत रावण मुहल्ला पर हल्ला हनुमान को '

तिरहार में बहेल्ला उन गाय-भैंसों के लिए प्रयुक्त होता है जो धनाती नहीं । इसी प्रकार स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होने पर यह गाली हो जाती है । भगवंतराय ने बहेल्ला शब्द का प्रयोग लंका के लिए किया है । लंका के निपूती होने का अर्थ है कि वह वीरविहीन है । अनाथ है । यदि उसके कोई वीर पुत्र होता तो क्या अपने देखते यह दुर्गति होने देता । स्पष्ट है कि इस शब्द के द्वारा बहुत अधिक व्यंजकता आ गई है । ऐसे प्रयोग कवि की सामर्थ्य के द्योतक हैं ।

मुहावरे : शब्दों के अतिरिक्त उनकी भाषा की व्यंजना-शक्ति मुहावरों के प्रयोग से भी बढ़ गई है। यद्यपि भाव एवं विषय की उदारता तथा धार्मिक वातावरण के कारण भाषा में लोकोक्तियों के प्रवेश की अधिक गुंजाइश नहीं रहती। परन्तु भगवंतराय ने उदात्त भाव-भूमि के काव्य में भी मुहावरों के प्रयोग के किए हैं। थोड़े से ही छन्दों में इनकी पर्याप्तता सिद्ध करती है कि इस कवि की भाषा मुहावरों के कारण अत्यन्त व्यंजक एवं परिपुष्ट थी। 'नजर का सूधी होना' कृपालुता के लिए कहा जाता है। 'एड़दार' उस वीर के लिए कहा जाता है, जिसे बाधायें नहीं रोक पातीं और जो अपनी आन का पक्का हो। स्तुति के छन्द में ही इसका प्रयोग देखिये :-

.... सूधी होत जेहि ओर देत साहिबी समृद्धि
सूझि पर परत उदार की

तथा

उदार एड़दार सरदार कपिगन को

भगवंतराय की भाषा का स्थान : भगवंतराय की भाषा में व्याकरण और अन्वय दोष भी हैं। क्रिया और कर्ता में कभी-कभी इतनी दूरी आ जाती है कि अर्थ में कठिनाई पड़ती है, पर उनकी भाषा में शब्दों की मन मानी तोड़ मरोड़ सबसे अधिक है। शब्दों के ऐसे स्वछन्द प्रयोगों के लिए भूषण और देव का नाम प्रसिद्ध है। इनकी भाषा भी इन्हीं दोनों कवियों की अनुगता होने के लक्षण प्रकट करती है। सब मिलाकर इनकी भाषा एक ओर जहां दोषपूर्ण है वहीं उसकी महत्वपूर्ण विशेषतायें भी प्रकट होती हैं। 'इस प्रसंग में इस तरह की गड़बड़ी के मूल में कवियों का असामर्थ्य उतना काम नहीं कर रहा था जितना व्याकरणिक व्यवस्था का अभाव। जहां कहीं सचेत होकर उन्होंने भाषा का व्यवहार किया है, वहां की पदावली प्राय: प्रसन्न और व्यवस्थित दिखाई पड़ती है।'[१] यह कथन ऐसा लगता है जैसे इन्हीं की भाषा को लक्ष्य करके कहा गया हो। मिली जुली खिचड़ी भाषा का आदर्श हिन्दी के आदिकाल से ही चलने लगा था और वही मान्यता रीतिकाल में भी बनी रही। भगवंतराय उसके अपवाद नहीं हो सके। परन्तु इसके साथ साथ शब्दों के मन-माने प्रयोग से अर्थ समझनेमें कठिनाई पड़ती है। जहां-जहां यह स्खलन है वहां प्रवाह और अर्थ में गांठे पड़ गई हैं। इस दोष के कारण काव्य के रसास्वाद में बाधा और अर्थ निकालने में बड़ा आभास और अनुमान का पल्ला पकड़ना पड़ता है। दुहराने की आवश्यकता नहीं कि उनकी भाषा का आदर्श देव और भूषण के अनुरूप है।

१-वृहत,इतिहास०, भाग ६,पृ० २७२

नीति परक रचना

नीति और काव्य : भक्ति और श्रृंगार की धाराओं के अतिरिक्त भगवंतराय ने नीति-विषय को भी छन्दोबद्ध किया है। ` नीति ` जीवन के व्यवहार पक्ष से सम्बंधित विषय है। यह शब्द ` नी ` धातु से बना है, जिसका अर्थ है ले जाना, पथ दिखाना इत्यादि। समाज के मंगल के लिए ऐसे साहित्य की उद्भावना अतीत काल से निरंतर चली आ रही है। अधिकांश विद्वान इसे काव्य-क्षेत्र से परे का विषय मानते हैं, किन्तु यह धारणा पूर्णत: नहीं स्वीकार की जा सकती। स्वयं हिन्दी का कुछ नीति-साहित्य काव्य-दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। वास्तव में इसका रहस्य यह है कि कविता विषय-वस्तु से ही नहीं, अभिव्यक्ति से विशेष सम्बंध रखती है। साधारण से साधारण विषय को भी अभिव्यक्ति क्षमता के कारण कवि उत्कृष्ट काव्य बना देते हैं। कवियों के व्यक्तिगत जीवन की कड़ुवी मीठी अनुभूतियां और तीखी संवेदनायें जब हृदय की गहराई से रस-सिक्त होकर अभिव्यक्त होती हैं, उस समय काव्यात्मक सरसता उनमें ओत-प्रोत हो जाती है। तुलसी और रहीम के नीति विषयक अनेक दोहे इस विशेषता से मंडित होकर काव्य की निधि बन गये हैं। इस इंगित से यहां हमारा प्रयोजन इतना ही है कि ` नीति ` को कथ्य बनाकर भी श्रेष्ठ काव्य की रचना हुई है और हो सकती है। नीति काव्य के कवि में कुछ विशेषतायें होती हैं। वह एकान्त जीवन की अपेक्षा सामाजिकता की ओर अधिक उन्मुख होता है तथा लोक के कार्य व्यापारों को महत्व देता है एवं उनमें रुचि रखता है। इसके अतिरिक्त वह जीवन के संघर्ष काल में प्राप्त अपने अनुभवों को परवर्ती पीढ़ियों के लिए उनके पथ-प्रदर्शन हेतु छोड़ जाना चाहता है जिससे कठिनाइयों से जन-समाज की रक्षा हो सके। ऐसे कवि में लोकदृष्टि और लोक-संग्रह का भाव प्रमुख रूप से रहता है। नीतिकार अपना और अपने समाज का अन्त: प्रेक्षण करता है। यह ठीक है कि उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और बहुधा यह प्रवृत्ति निराशा या पराङ्मुखता की अवस्था में बनती है परन्तु नीतिकार स्वयं को अपनी परिस्थितियों और अपने समाज को समझना चाहता है यह उसकी जीवन्तता का चिन्ह है।

सिद्धान्त और अनुभव पक्ष : चूंकि नीति सम्बंधी रचनायें कवि के व्यक्तित्व को उसके अनुभव और उसकी मान्यताओं को एवं उसकी लोक-जीवन सम्बंधी धारणाओं की पृष्ठभूमि पर निर्मित होती हैं। इसलिए भगवंतराय के नीति-छंद का

महत्व बढ़ जाता है । जिसके आधार पर हम अपने निष्कर्षों को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि भगवंतराय में -

(क) जीवन-संघर्ष और उसके परिणामों पर विचार करने की अंतश्चेतना थी ।

(ख) अनुभवों की सम्पन्नता और उसे लोकग्राही रूप में व्यक्त करने की क्षमता थी और था ।

(ग) लोक-हित का भाव ।

इन सामान्य निष्कर्षों के अतिरिक्त भगवंतराय के व्यक्तिगत जीवन पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है जैसे वे तुलसी के समान राम भक्त थे । राम से विमुख लोगों का उनके निकट कोई स्थान न था । साधु-जनों की सम्पत्ति के अपहरण को वे जघन्य पातक मानते थे एवं गीता के बचनों की भांति ` स्वधर्म निधनं श्रेय: ` के सिद्धान्त के मानने वाले थे। नीचे हम उनके नीति-सवैये को उद्धृत करते हैं :

कट्टरो ताजिनो बनिनाबाजिनो, भिच्छुकै लाजिनो भाजिनो देवा
पूस के मास में फूस को तापनो, भूतको जापनो फांफरी खेवा
हैं भगवंत इते नहिं काम के, राम के नाम को होहिं न लेवा
साधु को लूटनो धर्म को छूटनो, धूम को घूटनो सूम की सेवा

आलोचना : नीति काव्य भारतीय साहित्य की अपनी विशेषता है । संस्कृत, पाली और प्राकृत आदि भाषाओं की आदिकालीन परम्परा का हिन्दी साहित्य में भी ग्रहण हुआ है और सिद्धनाथ तथा संतो की वाणियों से अपने को विभूषित किया है । तुलसी और रहीम ने तो सचमुच उसे काव्यात्मक गहराई प्रदान की है । हिन्दी के सम्पूर्ण नीतिकाव्य को शैली की दृष्टि से प्रमुखत: उपदेश, अन्योक्ति और सूक्ति- इन तीन शैलियों में अलग किया जा सकता है ।

काव्य की दृष्टि से इन तीनों ही शैलियों में उपदेश का स्थान सबसे निम्न है । बाबा दीन दयाल आदि की चर्चा करते समय हृदय की अनुभूति की दुर्बलता के कारण ही आचार्य शुक्ल ने उन्हें सूक्तिकार तथा दूसरे जो उपदेश मात्र देते हैं, उन्हें केवल ` पद्यकार ` कहा है । अन्योक्ति शैली उपदेश शैली की अपेक्षा सरस होती है क्योंकि उसमें अभिव्यक्ति

१- हि० इतिहास, पृ०३८७

अलंकारिक होने के कारण प्रभावशाली और मुग्धकारी हो जाती है । नीतिकाव्य का श्रेष्ठतम रूप सूक्तियों में दृष्टिगोचर होता है जहां कवि उपदेश को वाग्वैदग्ध्य के सहारे प्रकट करता है । कबीर तुलसी और रहीम तथा वृन्द आदि कवियों की अनेक रचनायें इस कोटि में आती हैं । भगवंतराय के उपर्युक्त छन्द में वाग्वैदग्ध्य नहीं हैं । सामान्यतया उसे उपदेश शैली के अंतर्गत रखा जायेगा । कवि ने सीधे सादे ढंग से अपने हृदय के भावों और परम्परानुभूत तथा स्वानुभूत निष्कर्षों को प्रस्तुत कर दिया है । परन्तु इतना अवश्य है कि लोक में अत्यधिक प्रचलित `मत्तगयंद` सवैया छंद में श्रुत्यानुप्रासों के योग से पूरे कथ्य को गेय और श्रुतिमधुरता प्रदान करने में सफलता पायी है । साधारण लोगों के लिए सीधी सादी बात जिसे वे समझ लें और आसानी से स्मरण कर लें, अधिक उपयोगी सिद्ध होती है । पर इस छन्द के काव्योपादानों के महत्व से भी बढ़कर प्रत्यक्ष होने वाली बात है कवि के व्यक्तित्व का प्रकाशन । भगवंतराय के विचारों और उनके मानसिक गठन की इस छंद में झलक दिखाई देती है, एवं उनकी लोक संपृक्त चिन्तन प्रवृत्ति का प्रकाशन भी हो जाता है । यही इसकी विशेषता है । नीति साहित्य वास्तव में अपने कर्ता के जीवन व विचार पक्ष को ही सबसे अधिक प्रकाशित करता है, उसका महत्व इस दृष्टि से कभी भी न्यून नहीं किया जा सकता ।

संगीत

संगीत की प्राचीन परम्परा का ग्रहण : भगवंतराय जीवन की अनेक उदात्त साधनाओं में प्रवृत्त थे । संगीत उनमें से एक है । संगीत की साधना को भारतीय संस्कृति में बहुत ऊंचा पद दिया गया है । नाद ही ब्रह्म का[1] व्यक्त रूप बताया गया है । यह जगत-शब्द का या नाद का ही परिणाम है ।[2] नाद ब्रह्म की उपासना से मुक्ति मिलती है ।[3] संगीत की शक्ति अपार है । शिव के लास्य और

१- चैतन्यं सर्व भूतानां विवृतं जगदात्मनां । नाद ब्रह्म तदानन्द मद्वितीय मुपास्महे
नादो पासनया देवा ब्रह्म विष्णु महेश्वरा: । भवन्त्युपासिना नूनं यस्मादेते तदात्मका: ।
प्रणव भारती, पृ० ३

२- शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदु:
प्रणव भारती, पृ० ४

३- वीणावादन तत्वज्ञ: श्रुति जाति विशारद: ।
तालज्ञ श्चाप्रयासेन मोक्ष मार्गं निगच्छति ।
याज्ञवल्क्यस्मृति ० ३।११५

ताण्डव नृत्यों में भारतीयों ने सृष्टि और प्रलय होने की कल्पना की है । इसका लाक्षाणिक अर्थ यही लिया जा सकता है कि संगीत की शक्ति को हमारे यहां अपार और सर्वोपरि माना गया है । संगीत के अधिष्ठाता और आचार्य-रूप में अनेक देवी देवता, ऋषि तथा पुण्य श्लोक राजाओं के नाम पुराणेतिहासों में प्रसिद्ध हैं ।

मध्यकाल के हिन्दी भक्त कवियों ने भक्ति के प्रचार और हिन्दू जाति में आत्म विश्वास बनाये रखने के लिए संगीत का ही सहारा लिया था । भक्तों का अधिकांश साहित्य पदावलियों में है जो राग रागिनियों में रचा गया है । इन राग रागिनियों के माध्यम से भक्त अपने संदेश को सामान्य जनता के हृदय के अधिकाधिक निकट पहुंचा सके । यह उनकी दूरदर्शिता का ही परिणाम था क्योंकि संगीत का प्रभाव सीधे हृदय पर पड़ता है । इस भक्तियुग में संगीत के कारण हमारे जातीय जीवन में सरसता और माधुर्य की स्रोतस्विनी प्रवाहित रही और हमारा भाव-लोक सरस तथा स्फूर्तिमय बनारहा है । भगवंतराय का संगीत इसी भारतीय परम्परा से अनुप्राणित है । वे उसे विजातीय प्रभाव वश केवल मनोरंजन और मन बहलाव तक ही न सीमित कर आत्म-विकास आत्मोत्थान एवं आत्मोद्धार का साधन मानते थे ।

प्राप्त सामग्री (कोष्टक और ध्रुपद)

श्री भरत व्यास को छतरपुर के लाली गुरु से भगवंतराय का बनाया हुआ राग-रागिनियों का कोष्टक मिला है । कोष्टक के आरंभ वचन हैं - ' कोष्टक श्रीमन्त बलवंत महाराजधिप श्री भगवंतराय वीरवर ' इसमें ६ रागों तथा तीस रागिनियों का वर्गीकरण है । इसमें पहले रागों का परिचय और उनकी सिद्धि के लिए ऋतु और समय का विधान बताया गया है । राग की सिद्धि के पश्चात उसकी रागिनियों की सिद्धि के लिए भी इसी प्रकार की व्यवस्था बताई है । राग-रागिनियों की सिद्धि की धारणा बहुत प्राचीन काल से मान्य रही है जिसका इस कोष्टक में उल्लेख अथवा उद्धार किया गया है ।

हमारे देश की तान्त्रिक परम्परा के अनुसार प्रत्येक रागिनी की सिद्धि के लिए नक्षत्रों के विशेष योग की अनुकूलता को अनिवार्य माना गया है । नक्षत्रों के योग और रागिनियों की सिद्धि की पृष्ठभूमि में तंत्र शास्त्रों का ही प्रमुख प्रभाव है, जो भगवंतराय पर भी पड़ा । अनुश्रुतियों के अनुसार उनकी शक्ति सिद्धियों पर आश्रित थी[१] । कहा नहीं जा सकता कि

१- दूसरा अध्याय (भगवंतराय की जीवनी) देखें ।

इसमें सत्य या वैज्ञानिकता का अंश कितना है ।

भगवंतराय के कोष्टक के अनुसार राग और ऋतु का निकट सम्बन्ध है । जिस ऋतु का [illegible] जो राग है वह उसी ऋतु में सिद्ध किया जा सकता है । ऋतु में भी रागों का समय निश्चित रहता है । राग-सिद्धि के पश्चात उनकी रागिनियों की सिद्धि की जाती है । ये रागिनियां ज्योतिष के अट्ठाइस नक्षत्रों से सम्बन्धित है और प्रत्येक राग की अलग अलग रागिनियों के लिए उन्होंने इन नक्षत्रों की अनुकूलता का विधान सामने रखा है । वर्गीकरण का स्वरूप समझने के लिए मालकौशराग एवं उसकी ५ रागिनियों का वर्गीकरण यहां उद्धृत किया जाता है :-

मालकौश	पार्वती के मुख से निकला	मध्य स्वर इसकी सिद्धि है	ऋतु शिशिर	समयसूर्योदय	दो नायक धीरोदात्त दक्षिण

इसकी सिद्धि कृत्तिका और भरणी में होती है

टोड़ी	दिनका प्रथम प्रहर	नायक धीर शांत	परकीया कन्या मध्य यौवना	नक्षत्र मृग शिरा
गौरी	दिन का अंत	धीर ललित	स्वकीया मध्या प्रौढ़ यौवना प्रोषित भर्तृका	आर्द्रा नक्षत्र
गुण कली	रात्रि का अंत	धीरोदात्त	मुग्धा मानमृदु अभिसारिका	पुनर्वसु और रोहिणी
खंभावती	मध्यरात्रि	धीरललित	स्वकीया विरही त्कंठिता सामान्य वासक सज्जा	तिष्य नक्षत्र और मघा
कुकुभ	दिन का	धीर प्रशांत	सामान्या समस्त रस कोविदा नायिका	अश्लेषा

इस वर्गीकरण के अनुसार सिद्ध होता है कि इन्होंने राग पुत्र और राग बधू को नहीं माना । रीतिकाल के कुछ संगीतज्ञों ने इसको मान्यता दी है पर, उसका कारण विदेशी प्रभाव है ।

व्यास जी को भगवंतराय के तीन ध्रुपद भी मिले हैं । तीनों ही ध्रुपद धार्मिक एवं उपासना विषयक हैं । क्रमश: सूर्य, भैरव और हनुमान के प्रति इनकी रचना की गई है ।

हनुमान जी के प्रति लिखा गया ध्रुपद बंगाल भैरव राग में है । भैरव के प्रति लिखा गया ध्रुपद तांत्रिक है । भैरव युद्ध के देवता हैं । अत: व्यास जी का अनुमान है कि यह ध्रुपद भैरव को सिद्ध करने के लिए ही लिखा गया होगा ।[१] सूर्य के प्रति लिखा गया ध्रुपद पड़ा छन्द में है । पड़ा छन्द में सफलतापूर्वक ध्रुपद की रचना करने वाले स्वामी हरिदास एवं उनके प्रिय शिष्य मदन राय ही थे । श्वास स्वर भाषा भाव और छन्द इत्यादि पर जिस अधिकार की यहां इसकी रचना के लिए आवश्यकता होती है उसका निर्वाह कर सकना साधारण क्षमता वाले रचनाकार के वश की बात नहीं होती ।

सूचित सामग्री

इस सामग्री के अतिरिक्त व्यास जी ने यह भी बताया है कि भगवंतराय के समकालीन किसी परिष्कृत रुचि के पर्यटक ने इनके अनेक पदों को लिख लिया था । वह पुस्तक रूप में पिलानी के भैरव प्रसाद कम्पाउण्डर के पास विद्यमान है । उक्त पुस्तक को श्रीभगवत शरण उपाध्याय को दिखाने के लिए कम्पाउण्डर साहब लाए थे, तभी व्यासजी ने भी उसे देख लिया था । व्यास जी का कहना है कि उसमें ध्रुपद संगीत की दृष्टि से बड़ी ही उत्कृष्ट रचनायें संकलित हैं ।[२] उक्त संग्रह में भगवंतराय के भी अनेक ध्रुपद छंद हैं । अतएव कह सकते हैं कि भगवंतराय ने काफी ध्रुपदों की रचना की थी । उनके तीन छंदों का तीन स्रोतों से मिलना भी सिद्ध करता है कि वे छन्द बिखर गये थे । संभवत: मौखिक गवैयों ने परम्परा में ही उनको प्राप्त और स्मरण किया होगा । इस प्रकार उनकी एक बड़ी संख्या के नष्ट होने का भी अनुमान किया जा सकता है । दूसरे उपासना विषयक रचनाएं होने के कारण उन्हें सर्वसाधारण के पास पहुंचने भी न दिया गया होगा । उस समय की कट्टर पवित्रतावादी धार्मिक प्रवृत्ति इसे नहीं स्वीकार कर सकती थी ।

आलोचना : भगवंतराय की संगीत सम्बंधी रचनाओं के देखने से प्रकट होता है कि उन्हें संगीत के शास्त्रीय और कला दोनों पक्षों का ज्ञान था । इतना ही नहीं

१- व्यास जी भैरव और हनुमान के प्रति लिखे गये ध्रुपदों को देने में किसी भी प्रकार राजी न हुए । उन्हें इनके प्रति अत्यधिक मोह है , वे इन्हें अपने संग्रह के ध्रुपदों के बीच ` रत्न ` की संज्ञा प्रदान करते हैं ।

२- कम्पाउण्डर के अत्यधिक आर्थिक लाभ के कारण वह पुस्तक प्रकाश में नहीं आ सकी ।

संगीत की तांत्रिक परम्परा ने भी उन्हें प्रभावित किया था। उनके कोष्टक में राग-रागिनियों के नायक-नायिकादि का वर्गीकरण रीतिकालीन संगीत की सामान्य मान्यताओं की ओर संकेत करता है, जो उस समय के साहित्य से पूर्णतया प्रभावित है। इसमें राग रागिनियों की सिद्धि के लिए नक्षत्रों का निश्चित करना ही कुछ नयी सामग्री देता है जो तांत्रिक प्रभाव को प्रकाशित करता है।

जहां तक उनकी रचनाओं का सम्बन्ध है वे बड़ी ही प्रौढ़ हैं। उनमें संगीत के अलंकारों, अनुप्रास योजना शब्दों का गुम्फित और नियंत्रित प्रयोग कवि सामर्थ्य के प्रमाण देते हैं। भाषा के साथ साथ भाव पक्ष भी उतना ही सबल और समर्थ है। शब्दों के द्वारा भाव को चित्रित कर देना और संगीत की ध्वनि से वातावरण उतार देना ही संगीत की विशेषता है जो सूर्य के लिए लिखे गये ध्रुपद में स्पष्ट है :

जयति जय बलि सूर सूरज, जय जय दिवाकर
महि मंडल सुख करन
तेज महिमा अमित अमित नक्षत्र दल बल सकला देखि,
तम हटक फट फल सकल।
सरन है राय भगवंत बलवंत तूं राज विद्या महाशक्ति सौरभ भरन।

देखा जा सकता है कि भाषा कितनी सधी हुई परिमार्जित और भावानुकूल है। अनुप्रास योजना से भाषा का लालित्य बढ़ गया है। ओज गुण का स्वरूप छोटे छोटे सरल और अकृतिम शब्दों में किस प्रकार चित्रित हो जाता है ` अमित नक्षत्र दल बल सकल देखि, तम-हटक फट पल सकल।` इसमें भाषा के तत्सम रूप और परिष्कृत स्वरूप का बड़ा ही सुघड़ उदाहरण मिलता है। भाव और लय की मैत्री पूरे छंद में सुन्दरता के साथ निवही है।

रागात्मकता और तन्मयता गीति काव्य की प्रमुख विशेषतायें हैं, ये गुण इनकी रचनाओं में देखे जा सकते हैं। कवि अपने भाव में विभोर हो गया है। अपने आराध्य की अमित शक्ति और विश्व-कल्याणकारी शक्तियों का ध्यान करता हुआ अपने को शरणागत करता है।

जहां उनका कला-पक्ष इतना समृद्ध है वहीं उनका भाव-पक्ष धार्मिक और उपासना परक है। इससे प्रकट है कि वे संगीत को अत्यन्त पवित्र और उपासना की वस्तु समझते थे। यह परम्परा भारतीय ऋषियों की थी। इसी का विकास उनमें हुआ है।